भारतीय ग्रन्थमाला — संख्या ३६

मेरा साहित्यिक जीवन

लेखक
सर्वोदय अर्थशास्त्र, और मानव संस्कृति आदि
के रचयिता
भगवानदास केला

प्रकाशक
भारतीय ग्रन्थमाला, दारागंज, इलाहाबाद

पहला संस्करण] सन् १६५३ [मूल्य तीन रुपये

इस पुस्तक की बात

बहुत दिन की दुविधा और पशोपेश के बाद अब आकर मैंने समझा कि इस पुस्तक को पूरी करने और छपाने का काम मेरे करने योग्य है, और मुझे कर देना चाहिए। इसी से यह पुस्तक बन आयी। यह अपनी कहानी स्वयं ही है। तो भी यहाँ कुछ बातों का जिक्र करना है। डायरी के आधार पर मैंने कभी कभी अपना कुछ जीवनचरित्र लिखा। कई बार लिखित सामग्री खोयी गयी और लिखने का काम नये सिरे से शुरू करना पड़ा। एक बार बीस वर्ष तक की आयु का विवरण तैयार हो गया था, पर वह अंगरेजी में था। हिन्दी का विचार आने पर उसका क्रम रुक गया और आखिर वह भी गुम गया।

भारतीय ग्रन्थमाला का काम चल निकलने के बाद समय-समय पर कुछ सज्जनों ने मुझे आत्मचरित लिखने को कहा। कभी-कभी मैंने किसी पत्र में एक-दो लेख दिये भी। आखिर, ग्रन्थमाला के जयन्ती-वर्ष (१६३६) में उस समय तक की सामग्री संकलित की गयी। छपाने की न सुविधा हुई और न रुचि ही। समय आगे चलता गया, जीवन-कथा स्थिर या स्थगित रही। सन् १६५१ में, जब मैं गांधीनगर (जयपुर) था, चोर मेरा ट्रंक उठा ले गये, जिसमें इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रति भी थी। पर कागज-पत्र उनके काम के न थे, वे कुछ दूर इन्हें बिखरा छोड़ गये। पता लगने पर इन्हें समेट कर रख लिया गया। सन् १६५२-५३ में निश्चय किया गया कि पुस्तक एक बार पूरी कर दी जाए। चौदह वर्ष पहले संग्रह की हुई सामग्री को ठीक करना था, और इधर की कथा पूरी करनी थी। जब यह काम हो गया तो इसे जल्दी ही छपाने की भी योजना की गयी, जिससे कोई पहले जैसी घटना इसके जीवन को फिर संकटमय न कर दें।

इस पुस्तक में मेरी, भारतीय ग्रन्थमाला की और सर्वोदय ग्रन्थ-माला की बात के अतिरिक्त, मेरे आस-पास की भी बात है, मेरे विचारों और आदर्शों की बात है। प्रसंगवश मेरे कुछ गुरुजनों, साथियों और स्नेहियों का भी जिक्र आया है। किस के विषय में क्या लिखना, क्या नहीं लिखना, और जो लिखना वह किन शब्दों में लिखना—यह निश्चय करना कभी-कभी बहुत कठिन प्रतीत हुआ है। कोई-कोई स्थल बहुत नाज़ुक रहा है। जैसे दूसरों के सम्बन्ध में ठीक न्याय करते नहीं बनता, ऐसे ही अपने विषय में भी तटस्थ होकर लिखना एक बड़ी समस्या है। जैसा बन आया, मैंने कार्य किया, अब पाठक और आलोचक अपना काम करें।

यह आम तौर से कहा जाता है कि हिन्दी में जीवनचरित्र कम है। ऐसी शिकायत हम कब तक करते रहेंगे! जिनमें लिखने की योग्यता है, वे लिखें; जिनमें छपाने या प्रचार करने की सामर्थ्य है, वे उस में योग दें। आर्थिक दृष्टि से ऐसा प्रकाशन एक घाटे का काम है? शायद अब हिन्दी-प्रेमी इसे ऐसा न होने दें। फिर मैं तो यह भी सोचता हूँ कि जहाँ जीवन में कितने ही दूसरे घाटे के काम किये हैं, एक और भी सही। इस अनुभव का भी अपना आनन्द रहेगा।

मेरे जीवन का तरेसठवाँ वर्ष पूरा हो रहा है, मेरा लेखन-कार्य अड़तीस वर्ष से चल रहा है। अब इस पुस्तक को भारतीय ग्रन्थमाला की अन्तिम पुस्तक समझना चाहिए। सम्भव है, मैं अभी पाठकों को कोई और भी कृति दे सकूं, पर अब मेरा विचार अपने समय और शक्ति को सर्वोदय ग्रन्थमाला में, सर्वोदय के प्रचार में तथा अन्य सर्वोदयी कार्यों में ही लगाने का है। उसी के लिए मित्रों और प्रेमियों का सहयोग चाहता हूँ।

भगवानदास केला

पुस्तक-परिचय

सर्वोदय ग्रन्थमाला

(१) **सर्वोदय अर्थशास्त्र**—सर्वोदय की दृष्टि से अर्थशास्त्र की रूप-रेखा। संसार में सुख-शान्ति चाहने वाले राजनीतिज्ञों, अध्यापकों और पाठकों के लिए बहुत आवश्यक। [मूल्य, चार रुपये]

(२) **सर्वोदय अर्थव्यवस्था**—पूँजीवादी और साम्यवादी अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा सर्वोदय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं का सुन्दर विवेचन। [मूल्य, डेढ़ रुपया]

(३) **हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो ?**—अर्थशास्त्र में सर्वोदय दृष्टि-कोण रखने की आवश्यकता का विचार। [मूल्य, चार आने]

(४) **सर्वोदय राज—क्यों और कैसे ?**—स्वदेशी राज्य होनेपर भी वास्तविक स्वराज्य नहीं हुआ। सर्वोदय राज की रूप-रेखा देखिए और विचार कीजिए। [मूल्य, दस आने]

(५) **मानव संस्कृति**—संस्कृति क्या है, इसके विविध पहलू कौन-कौनसे हैं। इसका विकास किस तरह होता है, विविध देशों ने इसमें क्या योग दिया है—इन प्रश्नों का विचार कर मानवता और विश्व-कल्याण में भाग लीजिए। [मूल्य, ढाई रुपये]

(६) **समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय**—मानव प्रगति में पूँजीवाद, समाजवाद, अराजवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद तथा साम्य-वाद का भाग; और सर्वोदय की विशेषता। [मूल्य, बारह आने]

(७) **मेरा जीवन; सर्वोदय की ओर**—श्री भगवानदास केला के जीवन की झाँकी और सर्वोदय साहित्य तथा सर्वोदय यात्रा आदि का विचार। [मूल्य, पाँच आने]

(८) **सर्वोदय; दैनिक व्यवहार में**—खानपान, पहनावे, खेती, उद्योग धन्धे, शिक्षा और चिकित्सा आदि में सर्वोदय की बात।

[मूल्य, छः आने]

विषय-सूची

पहला अध्याय

साठ वर्ष पहले

दूसरा अध्याय

मेरा जीवन-प्रभात

तीसरा अध्याय

शिक्षा-दीक्षा

चौथा अध्याय

देश-सेवा की प्रेरणा

पाँचवाँ अध्याय

अंगरेजी से हिन्दी की ओर

छठा अध्याय

साहित्यिक जीवन में प्रवेश

सातवाँ अध्याय

पहले पाँच वर्ष

आठवाँ अध्याय

सम्पादकीय कार्य

नवाँ अध्याय

प्रेम महाविद्यालय में

दसवाँ अध्याय

अभीष्ट मार्ग पर

नवाँ अध्याय

प्रेम महाविद्यालय में

दसवाँ अध्याय

अभीष्ट मार्ग पर

सोलहवाँ अध्याय

साहित्यिक चिन्तन

सतरहवाँ अध्याय

वृन्दावन से प्रयाग

अठरहवाँ अध्याय

एकान्त साधना

उन्नीसवाँ अध्याय

साहित्यिक आदर्श

बीसवाँ अध्याय

सर्वोदय की ओर

इक्कीसवाँ अध्याय

सर्वोदय यात्रा

बाइसवाँ अध्याय

सर्वोदय प्रचार

तेइसवाँ अध्याय

जीवन-दृष्टि

परिशिष्ट

अनुक्रमाणिका

———

पहला अध्याय

साठ वर्ष पहले

ग्राम-जीवन में एक प्रकार की ममता होती है, जो नागरिक जीवन में नहीं पायी जाती; एक प्रकार का स्नेह-बन्धन होता है जो सब प्राणियों को—चाहे छोटे हों या बड़े—बांधे रहता है। —प्रेमचन्द

मेरे बचपन में गांव का जीवन—मैं गांव का हूँ। मैं गांव में जन्मा हूँ और मेरे जीवन के पहले दस वर्ष गांव में ही बीते। मैंने प्रारम्भिक शिक्षा गांव में ही पायी। एक साक्षरता की ही बात नहीं; सभा-समाज में उठने बैठने, बातचीत करने, शिष्टाचार, सभ्यता, सदाचार आदि का भी जो थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया है—उसकी बुनियाद मेरे गाव में रहते ही पड़ी है। इस प्रकार मेरे निर्माण की नींव गांव में रखी गयी। मेरी पृष्ठभूमि गाव की है। मेरे बचपन के समय, अब से साठ वर्ष पहले, गांव का जीवन कैसा था, वहाँ की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थिति कैसी थी, इसका कुछ परिचय आगे दिया जाता है।

गांव में सामाजिक भावना—गांवों में सामाजिक एकता अब भी कई बातों में नगरों से अधिक है, मेरे बचपन के समय तो बहुत ही थी। जाति बिरादरी की विशेष भिन्नता नहीं थी। एक-एक जाति के अनेक भेदों उपभेदों को आदमी जानते ही न थे। हिन्दुओं की मुख्य चार जातियाँ ही उन्हें विदित थीं—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र! शूद्रों से अस्पृश्यता बहुत कम मानी जाती थी, उनसे प्रायः अच्छा व्यव-हार होता था, उनके दुख दर्द में दूसरों की यथेष्ट सहानुभूति रहती थी। बोलचाल में उनके प्रति कोई हीनता का भावना प्रकट नहीं की जाती

था। बालक जैसे दूसरी जाति के आदमियों को चाचा ताऊ आदि कहते थे, ऐसे ही शूद्रों को इन शब्दों से सम्बोधन करते थे। ऐसा ही व्यवहार मुसलमानों से होता था। गाँवों में उस समय 'हिन्दू मुसलिम' नाम का कोई प्रश्न नहीं था। गरीब अमीर में भी कोई विशेष पृथक्ता सूचक दीवार न थी। इस प्रकार वहाँ आदमियों की वेश-भूषा, रहनसहन और व्यवहार में खास अन्तर न था, बालकों में तो वैसे भी अन्तर नहीं होता।

हिन्दू-मुसलिम समस्या का अभाव—ऊपर कहा गया है कि गाव में हिन्दू-मुसलिम जैसा कोई समस्या नहीं थी। यह तो शहरी समस्या है, जो पिछले वर्षों में धीरे-धीरे बढ़ी है, अँगरेजी शासन में इसे खूब प्रोत्साहन और पुष्टि मिली है। शहरों से यह क्रमशः गावों में गयी है। अब भी अनेक गावों में यह विशेष प्रवेश नहीं कर पायी है। अस्तु, उस समय तो गाव इस रोग से मुक्त ही थे। हमारे गांव में अधिकतर आबादी हिन्दुओं की थी, पर वहाँ कुछ मुसलमान भी रहते थे। पास के गावों में उनका अनुपात कुछ अधिक था। हमारे गांव में मुसलमान कपड़ा रंगते और छापते थे। इस लिए उन्हें छीपी कहा जाता था। मुझे याद है कि बहुत समय तक मैं यही समझता रहा कि वे एक खास काम करने वाले हिन्दू हैं; धार्मिक भेद कोई बात मन में नहीं आती थी। एक छीपी परिवार हमारे ही एक दूसरे मकान में साधारण किराये पर रहता था, इस लिए उसकी औरतें और बच्चे अकसर हमारे यहां आते-जाते थे। कोई पृथकता की बात नहीं थी। जब औरतें चूड़ीदार पाजामा पहनती थी, तो मेरे लिए यही उनकी पहचान होती थी। दूसरा कोई अन्तर मैं उनके रहन-सहन आदि में नहीं देखता था। तीज त्योहार और सुख दुख में उनसे बहुत कुछ सहयोग था। मैं जैसे दूसरी महिलाओं को चाची ताई कहता था, वैसे ही उस परिवार की महिलाओं को सम्बोधन करता था। बस्ती से थोड़ी दूर एक 'सैयद' का स्तूप था। मुझे अकसर उस पर शीरणी (मिठाई) चढ़ाने के लिए लेजाया जाता था। मन्दिर (शिवालय) के अहाते में दूसरे बालकों के साथ छीपियों के बालक भी आजादी से खेला

करते थे। जमुना नहाने के लिए वे अकसर जाते रहते थे। उनके नामों में भी कोई विशेषता नहीं होती थी, वे दूसरों से कुछ मिलते-जुलते ही होते थे। इस प्रकार सब के रहन-सहन, आचार-व्यवहार आदि में इतना सुन्दर समन्वय था कि मुझे बचपन में यह जानने का अवसर ही नहीं मिला कि वे कोई दूसरे हैं, और हम दूसरे हैं। यह 'ज्ञान' तो पीछे बड़े होने पर, शहरी जीवन बिताने पर हुआ।

मनोरंजन—गांव में लोगों के मनोरंजन के साधन भी समान ही होते थे। युवक प्रायः कबड्डी आदि खेलते थे, या रहँट पर घूमते थे। विद्यार्थी बहुधा ताश खेला करते और बड़ी उम्र वाले ताश के अतिरिक्त चौसर या शतरंज खेलते थे। औरतों को अकसर तीज त्योहार के, जन्मोत्सव, विवाह-शादी आदि के मौकों पर गीत गाने का प्रसंग आता था। सावन-भादों में औरतें घरों में तथा बाहर पेड़ों पर झूला डाल कर झूलती थीं और गाती जाती थीं। समय-समय पर 'माता' की पूजा के लिए स्त्रियाँ टोली बना कर गांव से बाहर जाती तो तरह-तरह के गीतों की मधुर ध्वनि का प्रसार होता था। कभी-कभी बाहर से रामधारी आते और कृष्ण लीला का अभिनय करके लोगों को मुग्ध करते थे। उनके भोजन आदि का प्रबन्ध एक दिन एक महाजन के यहाँ होता, दूसरे दिन दूसरे के यहाँ। वे रामधारी पैसे के भूखे न होते थे, जो कुछ उन्हें मिल जाता, उसी में सन्तोष करते थे। उन्हें अपनी कला से दूसरों के मनोरंजन का अवसर मिल जाता, इसी में उन्हें बहुत आनन्द होता था। गांव में कभी-कभी किसी के यहाँ कोई कथा आदि होती, या रामायण-पाठ होता तो उससे आस-पास के आदमी यथेष्ट लाभ उठाते थे। मनोरंजन और संस्कृति का यह बड़ा सुहावना समन्वय था।

श्रम और संगीत—गाँव में खेती आदि के लिए तो अब भी आदमी मेहनत करते हैं, या यह कहें कि करनी पड़ती है। उस जमाने में गाँवों में एक विशेषता और थी, जिसका अब लोप हो रहा है। स्त्रियाँ बड़े सवेरे उठ कर चक्की चलाया करती थीं। बालकों के लिए उषा काल

या पौ फटने की एक खास पहचान ही यह थी कि चक्की चलने लग जाएँ। स्त्रियाँ आटा पीसने के साथ तरह-तरह के संगीत का भी आनन्द लेती थीं। इस विषय में मैं अपने सम्बन्ध की एक बात का जिक्र किये बिना नहीं रह सकता। हमारे घर में जब मेरी कोई भाभी नहीं होती थी तो माता जी अकेली ही आटा पीसा करती थी। एकाध बार मुझे बहलाने के लिए उन्होंने चक्की चलाते समय गोदी में ले लिया, मुझे वह बड़ा अच्छा लगा। तब से मैं यह जिद् करने लगा कि मुझे गोदी में लिटा कर ही आटा पीसा जाय। मुझे अपने आनन्द से मतलब था, मुझे क्या मालूम था कि मेरी वृद्धा माता के लिए वह कार्य कितना श्रम-साध्य था। अस्तु, माता जी प्रायः मेरा मन रखने के लिए सब तकलीफ सहती ही थीं। खास बात मुझे यह कहनी है, कि मेरे बचपन के दिनों में गाँवों में ब्रह्म-मुहूर्त में चक्कियाँ चलने के साथ प्रत्येक घर से संगीत की जो मनोहर ध्वनि निकलती थी, उसका अब भयंकर ह्रास हो गया है। अब तो गाँव के आदमी दो-दो तीन-तीन मील दूर जाकर भी आटा-चक्की ('फ्लोर मिल') से आटा पिसवा लेते हैं, और कुछ गाँवों ने इतनी 'उन्नति' करली है कि वहाँ ही आटा-चक्की लग गयी है। थोड़े से पैसे देकर औरतों की मेहनत बचा दी जाती है, साथ ही उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ने के लिए मुक्त कर दिया जाता है। इस तरह औरतें एक स्वाभाविक, निश्शुल्क और स्वास्थ्य-वर्द्धक मनोरंजन से वंचित रहती हैं।

बीड़ी और चाय की बात—गाँव में कुछ आदमी हुक्का पिया करते थे। मेरे रिश्तेदारों में भी एक भाई और एक चाचा हुक्का पीते थे। एक बार मेरे पेट में दर्द होने पर मुझे भी हुक्का पीने को कहा गया। पर मुझे उसका ज्ञान न होने से हुक्के का पानी मेरे मुँह में आ गया। इस प्रकार पहला प्रयोग ही ऐसा अरुचिकर हुआ कि फिर कभी उसकी आवृत्ति न हुई। मैं इससे बचा ही रहा। अस्तु, गाँव में अपने बड़ों को हुक्का पीते देखकर बालक भी पीया करते थे; हाँ, प्रायः किसी का अपने बड़ों के सामने हुक्का पीना शिष्टाचार या सभ्यता के विरुद्ध

माना जाता था। हुक्का पीने का चलन होने की दशा में धूम्रपान पर स्वाभाविक नियंत्रण था, क्योंकि हुक्का जगह-जगह ले जाया नहीं जा सकता, फिर, इसमें उसे ताजा करने (ताजा पानी भरने) और आग लाने का काम रहता था। इस प्रकार प्रायः गाँव के आदमी सुबह, दोपहर को या शाम को ही धूम्रपान करते थे। अब तो बीड़ी का पैकेट और दियासलाई की डिबिया जेब में रहती है। आदमी जब चाहे, और दिन रात में जितनी बार चाहे उसका उपयोग करता रहता है। लोगों का यह खर्च भी बहुत बढ़ गया है।

मेरे बचपन के जमाने में गाँवों में चाय का कोई नाम भी नहीं जानता था। यह तो बहुत से शहरों में भी पिछले कुछ ही वर्षों में दाखिल हुई है। चाय के विज्ञापनदाताओं ने तरह-तरह से पहले शहरों में और फिर धीरे-धीरे कस्बों और गाँवों में इसका प्रचार बढ़ाया है। शहर के जो आदमी खासकर अधिकारी या सरकारी नौकर जब गाँवों में जाते है, वे अपने साथ अपना शहरीपन भी वहाँ ले जाते हैं और गाँव वालों को अपने 'सभ्य जीवन' और 'ऊँचे दर्जे के रहन-सहन' का परिचय देते हैं। उधर कितने ही गाँव वाले भी यथा-सम्भव उनकी नकल करने लगते हैं, और वे उनसे ऐसी बातों में पीछे रहना नहीं चाहते। इस प्रकार गाँवों में भी कितने ही आदमी खासकर सर्दी के मौसम में चाय पीने और अपने अतिथियों को पिलाने लग गये है। हाँ, अभी उनमें से बहुत-सों के यहाँ चाय तैयार करने के बर्तन और प्याले प्याली की पूरी व्यवस्था नहीं हुई है, पर उस दिशा में भी 'तरक्की' होती जा रही हैं।

अर्थ-व्यवस्था—उन दिनों गाँवों में पैसा बहुत ही कम था, पैसे वाली अर्थव्यवस्था ही न थी। अधिकतर पदार्थों का क्रय विक्रय न होकर अदल-बदल होता था। हमें जो साग-भाजी, या लकड़ी आदि लेनी होती थी, उसके बदले हम अनाज ही देते थे। कभी-कभी कुछ चीजें कौड़ियों की ली जाती थीं। शायद आठ गंडों का पैसा माना

जाता था, एक गंडे में चार कौड़ियाँ होती थी। कई बार एक पैसे में कई-कई चीजें ली जाती थीं। अधिकतर घरों में साल भर का नहीं तो अगली फसल तक के लिए अनाज का संग्रह रहता था, इससे किसी को भूखा मरने की नौबत नहीं आती थी। फिर घरों में कुछ जेवर होता था, वह संकट के समय काम आता था। हमारे गाँव में दो-तीन महाजन थे जो लोगों को, जेवर गिरवी रख कर या वैसे भी रुपया उधार देते थे। साधारण रोजमर्रा के निर्वाह-कार्य के लिए रूपया उधार नहीं लिया जाता था, उसकी जरूरत लगान चुकाने, विवाह-शादी करने या मकान आदि बनवाने में ही होती था। कर्ज के बारे में बहुत दफा तो लिखा-पढ़ी कुछ भी नहीं होती थी और कुछ दशाओं में मामूली याददाश्त रखी जाती थी। महाजन की बही पर पूर्ण विश्वास होता था, उसमें किसी प्रकार शंका करना अनुचित माना जाता था, कानूनी लिखा-पढ़ी नहीं होती थी। फिर भी प्रायः रुपया मारा नहीं जाता था, आदमी धर्म-भीरु थे, उधार देने वाले का अहसान मानते थे, कर्ज चुकाना अपना जरूरी कर्तव्य समझते थे। इस प्रकार मुकदमेबाजी का अवसर बहुत कम आता था, (मारपीट और लड़ाई-झगड़े के मामले कभी-कभी होते रहते थे)। मंदिरों में भी कुछ रुपया जमा रहता था, वे भी लोगों की जरूरत के समय यथा-सम्भव सहायता करते थे। गरीबी थी तो सही, पर जहाँ तक मुझे अनुभव हुआ कि वह आजकल की तरह अखरने वाली न थी।

चीजों के भाव—मेरे बचपन में घी रुपये का दो सेर तक रहा है; दूध तो बिकता ही न था। गेहूँ का भाव सोलह-सतरह सेर था। कपड़े की व्योरेवार बात याद नहीं; प्रायः हम सूत देकर कपड़ा बुनवा लेते थे। एक बार की बात है। माता जी ने मेरे लिए धोती मंगाने की बात कही थी। पीछे मैं खुद महाजन की दुकान पर चला गया और धोती (तीन गज की) ले ली। मैंने दाम पूछे तो उसने कहा कि

थे। कोई तो नयी रूई कातती थी, और कोई रुअड़ अर्थात् रजाई बिछौने आदि की पुरानी रूई। इस कार्य के साथ अकसर भजन या गीत आदि गाये जाते थे, और खासा मनोरंजन भी होता रहता था, और लोगों की रोजमर्रा की एक खास जरूरत के पूरा होने में बड़ी मदद मिलती थी। पीछे इन बातों का प्रायः लोप हो गया। महात्मा गाँधी के आन्दोलन ने सन् १९२० में चरखे को फिर जीवन दिया है, तो भी अभी अनेक स्थानों में वह स्त्रियों के स्वाभाविक कार्यक्रम में स्थान नहीं पा सका है।

श्रद्धा-भक्ति और अतिथि-सत्कार—उस समय गाँव में एक ही मंदिर (शिवालय) था।* कुछ आदमी नियम से वहाँ प्रतिदिन जाते और पूजा पाठ करते थे। एकादशी, रविवार, पूर्णिमा, आदि के दिन दर्शन करने वाले कुछ अधिक होते थे। आदमी अपनी श्रद्धा-नुसार कुछ फल-फूल आदि वहाँ चढ़ा दिया करते। पैसे का चलन प्रायः नहीं था। कभी-कभी कुछ आदमी पुजारी के लिए 'सीधा' भी लाते थे, जिसमें कुछ आटा, दाल, नमक, घी और एक दो पैसे होते। मंदिर में पुजारी के अतिरिक्त एक-दो साधु भी प्रायः बने रहते थे। यद्यपि उनके द्वारा गांव का कोई हित नहीं होता था, गांव के आदमी उनका भरण-पोषण करना अपना कर्तव्य समझते थे। लोगों में सेवा-भाव और अतिथि-सत्कार की यथेष्ट भावना थी।

बहुधा शहर वालों के यहां जब कोई मेहमान आता है तो वे उसे कभी-कभी भार-रूप मानते हैं, यद्यपि बात-व्यवहार में बहुत स्नेह और श्रद्धा दिखलाते हैं। इसके विपरीत, गांववालों में सत्कार भाव भीतरी अर्थात् हार्दिक होता है। कुछ वर्ष हुए मैं अपने पुत्र ओमप्रकाश के साथ गांव

---

*अब हमारे गांव में तीन मंदिर हैं। अधिकतर गावों में मंदिरों की संख्या बढ़ी ही है। पर इसमें जनता की सात्विक भावना कहां तक है, यह विचारणीय है।

गया । मैं अपने सहपाठी लाला चिरंजीलाल के यहां उतरा था, वह उस समय बाहर गये हुए थे । इस बीच में पास के एक सज्जन आये और हमें बातें करते हुए अपने मकान पर ले गये । थोड़ी देर बात चीत करने पर उन्होंने हमें जीमाने की व्यवस्था कर दी । इसके बारे मे उन्होंने पहले कुछ जिक्र भी नहीं किया था । मैंने कहा कि हमारा भोजन तो लाला चिरंजीलाल के यहां होगा । इस पर उन्होंने कहा कि 'चिरंजीलाल में और हमारे में क्या अन्तर है ! एक ही तो बात है ।' यह बात ओम प्रकाश के लिए विशेष आश्चर्य या कौतूहल की रही । देश में पैसे की अर्थ व्यवस्था फैलती जा रही है और आगे आगे ऐसे मधुर प्रसंगों की सम्भावना कम होती दिखाई देती हैं ।

अधिकारियों का व्यवहार—हमारा गांव शहर (पानीपत) से काफी दूर होने के कारण यहां किसी अंगरेज का आना नहीं होता था । कहते हैं कि भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन (सन् १८५७) में इस गांव के आदमियों ने भी काफी भाग लिया था । गांव में हमारे मकान के पीछे के स्थान को 'भौंरा' कहा जाता था । सुना है वहां बहुत से आदमी छिपे थे । कुछ तलवारें आदि वहां मिली हैं । अस्तु, सेना उस समय वहां भले ही आयी हो, पीछे वैसी कोई बात नहीं हुई । मेरे बचपन में तो थानेदार आदि ही समय-समय पर वहां आये । गांव के किसानों में खेती सम्बन्धी झगड़ों में मारपीट के प्रसंग आये । ऐसे अवसरों पर जब कभी थानेदार आदि गांव में आया तो कभी कभी वह पाठशाला में भी ठहरा । इस दशा में शिक्षक को उसके लिए आवश्यक-व्यवस्था करने की फिक्र होती, और विद्यार्थियों में बड़ी सनसनी सी फैल जाती । गांव में अजीब आतंक सा हो जाता । थानेदार के लिए बेगार आदि में आवश्यक सामान मंगाना लम्बरदार आदि के लिए मामूली बात थी ।

बड़ा होने पर तो मैंने वह समय भी देखा कि सरकार ने 'ग्राम-सुधार' का आंदोलन चलाया । अधिकारी गावों में पहुँचे । उन्हें दिखाने के लिए कुछ नाममात्र की सफाई का काम कर दिया गया । कुछ थोड़ी सी सड़क

पर मिट्टी फैलाकर उसे हमवार करा दिया गया। कहीं-कहीं कुछ घरों में खिड़कियाँ लगवाने के लिए दीवारों में छेद कर दिये गये, या तारकोल अथवा खड़िया से स्वास्थ्य सम्बन्धी कुछ वाक्य लिख दिये गये। प्रायः ऐसे कामों के लिए अधिकारियों का वहाँ जाना लोगों को बहुत मंहगा और कष्टदायक ही मालूम हुआ; कारण, उन्हें इनके ठहरने और खाने पीने आदि की सब व्यवस्था करनी पड़ी। इन लोगों को दिन में कई बार चाय और नाश्ते की जरूरत होती, रात को लालटेनों की मांग होती और कभी-कभी तो गांव वालों से यह भी आशा की जाती कि वे इनके लिए अच्छी चारपाइयां (पलंग) ही नहीं, अच्छे बिस्तर भी दें। अधिकारियों के इस व्यवहार से गांव वालों की ऐसे 'ग्राम-सुधार' से अरुचि होना स्वाभाविक था। वे तो इसे 'ग्राम-बिगाड़' ही कहते नहीं तो समझते जरूर थे। अब देश स्वतन्त्र हो गया है। अपनी ही सरकार है। पर क्या अधिकारियों की मनोवृत्ति में यथेष्ट सुधार हुआ है, क्या वे गांव में शहरीपन को छोड़कर सेवा-भाव से जाते हैं!

विद्यार्थी और शिक्षक का सम्बन्ध—उस जमाने में अध्यापक का विद्यार्थी से घनिष्ट सम्पर्क और सम्बन्ध होता था। वह विद्यार्थी के माता पिता या संरक्षक से परिचित होता था, अकसर उनसे मिलता रहता था। विद्यार्थी यह अनुभव करता था कि शिक्षक मेरे गुरुजनों में से ही हैं। शिक्षक केवल यह नहीं देखता था कि विद्यार्थी अपनी शिक्षा में कितनी उन्नति करता है, वह उसके चरित्र और व्यवहार पर भी नजर रखता था। उस समय का विद्यार्थी बड़े होने पर अपने शिक्षक को भूल नहीं जाता था। उन दोनों का सम्बन्ध चिरकाल तक बना रहता था। दोनों को एक दूसरे के दुख सुख का विचार रहता था। अब खासकर शहरी जीवन में हम केवल उन शिक्षकों को याद रखते हैं, जो हमें अन्तिम ऊंची कक्षाओं में पढ़ाते हैं, या जिनसे हमें कुछ खास स्वार्थ सिद्ध होने की आशा होती है; दूसरों को भूल जाते हैं, उनसे कोई सम्पर्क नहीं रखते। शिक्षकों को भी पढ़ाने के समय के अतिरिक्त, विद्यार्थियों से प्रायः

कुछ मतलब नहीं होता। शिक्षा संस्था के बाहर विद्यार्थी व्यवहार और रहन-सहन आदि में 'स्वतन्त्र' होते हैं।

गाँव की पढ़ाई—मेरे समय में गाव की पाठशाला में एक ही अध्यापक होता था। उसे ही सब कक्षाओं को पढ़ाना होता था। इससे अक्सर छोटी श्रेणियों का कुछ काम प्रायः ऊँचे दर्जे के विद्यार्थियों को सौंप दिया जाता था। वास्तव में एक व्यक्ति के लिए पांच कक्षाओं को सभी विषय पढ़ाना कुछ आसान काम नहीं है। फिर, गांव का अध्यापक स्थानीय डाकखाने का भी काम करे तो उससे शिक्षा कार्य में बाधा होना स्वाभाविक ही है। प्रायः गांव के शिक्षक में, खासकर जब वही पाठशाला का एकमात्र अधिकारी हो, कोई दूसरा देखने भालने वाला न हो; कुछ गैर-जिम्मेवारी की भावना आनी स्वाभाविक है। वह पाठशाला का समय अपने निजी काम में लगा सकता है; यहाँ तक कि विद्यार्थियों की हाजिरी भी कभी-कभी कई-कई दिन में लेता है। वह जानता है कि गाव में डिप्टी, इंस्पेक्टर आदि का आना तो खास-खास समय ही हो सकता है। अस्तु, जब किस 'अफसर' के दौरे की सम्भावना होती, उन दिनों कुछ ठीक व्यवस्था कर दी जाती। पीछे फिर वही पुराना ढर्रा चलता था। अन्त में जब वर्ष समाप्त होने वाला होता तो पढ़ाई की ओर जरूरत से ज्यादा ध्यान दिया जाता। बालकों को नर्मी या कड़ाई से, जैसे भी बने अनेक बातें कण्ठ करादी जातीं, जिससे परीक्षा परिणाम कुछ ठीक रहे।

समाचार-पत्र आदि—गांवों में उस समय पुस्तकालय तो क्या, वाचनालय का भी नाम न था। हमारे गाव में अकेले पंडित जी (ग्राम-शिक्षक) ही 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' (साप्ताहिक) मंगाया करते थे। उसे 'अखबार' नाम दिया जाता था। अस्तु, सब समाचारों के भंडार पंडित जी होते थे। जिज्ञासु उनसे ही बाहर का कुछ हाल मालूम कर लिया करते थे। कभी कोई उनके पास आता तो अखबार पर कुछ नजर डाल लिया करता। उसमें छपी किसी बात में कोई शंका नहीं की जाती

थी। जो बात छप जाती थी, वह पक्की प्रामाणिक मानी जाती थी। आज कल पत्रों पर पहले जैसी श्रद्धा नहीं रही है। बहुत सी बातें दल बन्दी, पक्षपात या कुछ प्रलोभन-वश छपी हुई मानी जाती हैं, और अनेक दशाओं में इस मान्यता के लिए यथेष्ट आधार भी होता है।

ऊपर कहा गया है कि गांव में कोई वाचनालय या पुस्तकालय न था। पंडित जी के अतिरिक्त नया समाचार लोगों को शहर (पानीपत) वालों से ही मिलता था। जब कोई आदमी शहर होकर आता तो उस से दूसरे आदमी पूछ लिया करते कि क्या खबर-सार है। वैसे लोगों को नित्य खबरें जानने की कोई विशेष उत्सुकता भी नहीं होती थी। अब इतना समय बीत जाने पर भी इस दिशा में यथेष्ट प्रगति नहीं हुई। तीन वर्ष से पंडित जी के नाम पर कुछ सज्जनों ने एक 'श्री अयोध्या पुस्तकालय' की स्थापना की है। उसमें एक दैनिक पत्र आता है, और थोड़ी सी पुस्तकें रखी हैं। सर्वसाधारण का यथेष्ट सहयोग प्राप्त नहीं है, वह किसी तरह चल रहा है। कुछ लोग अपना-अपना पत्र पत्रिका मंगाते हैं। हाँ, गांव के कई विद्यार्थी शहर में पढ़ते हैं, उनका तथा दूसरे आदमियों का भी जाना आना लगा रहता है। शहर जाने वाले कुछ सज्जन कभी-कभी वहाँ से कोई अखबार खरीद लाते हैं। इस प्रकार लोगों के नये समाचारों की प्राप्ति होती रहती है।

ग्रामीण औषधालय—उस समय गांव में कोई औषधालय नाम की संस्था न थी। पंडित जी ही एक मुख्य वैद्य थे। आप आयुर्वेदिक औषधियाँ दिया करते थे, अथवा लोगों को नुस्खा बता दिया करते थे। एक दो दूसरे सज्जन भी कभी-कभी रोगियों को आवश्यक परामर्श दिया करते थे। लोगों को जड़ी बूटियों का और शरीर की विविध नसों और प्राकृतिक उपचारों का खासा ज्ञान था। हाँ, उस समय चिकित्सा की कोई संगठित व्यवस्था न थी, खास अवसरों पर शहर से दवाई मंगायी जाती थी। तो भी साधारणतया लोगों का स्वास्थ्य अच्छा था। उन्हें मेहनत की आदत थी। आदमी शहर जाते

और काम करके उसी दिन पैदल लौट आते थे। इस प्रकार दस बारह मील की यात्रा अनायास हो जाती थी। अब तो कितने ही आदमियों के पास साइकलें हैं, और दूसरे भी कुछ आदमी साइकल चलाना जानते हैं; जरूरत होने पर वे भी उनका उपयोग करने के इच्छुक रहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि मेरे बचपन के समय गांव में घर-घर आटा पीसने की हाथ-चक्कियाँ चलती थी ; अब उनका लोप होता जा रहा था। औरतों में भी आरामतलबी बढ़ती जा रही है। फलस्वरूप उनका ही नहीं बालकों का स्वास्थ्य भी बहुत गिरता जाता है। अब गांव में एक सरकारी शफाखाना है, दूसरे भी कई वैद्य और डाक्टर आदि हैं। तो भी रोगियों की संख्या खूब बढ़ी हुई रहती है। सब की समुचित देखभाल नहीं हो पाती। आदमी प्राकृतिक जीवन से दूर होते जा रहे हैं और बात बात में औषधियों की शरण लेना चाहते हैं तो रोगों की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। इतना अच्छा है कि गावों में हवा खुली और ताजी मिलती है, जो यथेष्ट सफाई न होने पर भी शहर की अपेक्षा अच्छी ही होती है। इसके अलावा गावों में मुख्य धन्धा खेती होने से अधिकांश लोगों को श्रम करना ही पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो जनता का स्वास्थ्य इतना खराब रहे कि चाहे जितने औषधालय हों, उनसे काम न चले।

विशेष वक्तव्य - गांव की स्थिति अब से साठ वर्ष पहले कैसी थी, उसका यह थोड़ा सा परिचय है। इस बीच में वहाँ क्या प्रगति हुई, अथवा किन बातों में परिवर्तन गलत दिशा में हुआ, इसका भी इशारा किया गया है। शहरी जीवन के बारे में आगे लिखा जाएगा। इस पुस्तक के पाठकों के लिए तो सोचने की मुख्य बात यही है कि वातावरण का मुझ पर क्या प्रभाव पड़ा, मैंने उसके गुण या अवगुण कहाँ तक ग्रहण किये।

दूसरा अध्याय

मेरा जीवन-प्रभात

मेरी प्यारी अम्मा, मेरी जान अम्मा ॥
तुम्हीं ने सदाचार मुझको सिखाया।
तुम्हीं ने है मार्ग धर्म का बताया।
तुम्हीं ने है पापों से मुझको बचाया।
तुम्हीं ने है मानस मुझको बनाया ॥
मेरी प्यारी अम्मा, मेरी जान अम्मा ॥

—अज्ञात

जीवन का पूरा रस संचय करने के लिए यह आवश्यक है कि आप अपनी स्मृति में जीवन के प्रारम्भिक स्वरूप को कभी भी धुंधला न पड़ने दें।

—लार्ड इनमेन

ग्राम-जीवन की याद—मेरा जन्म गांव में हुआ, बचपन वहीं बीता। पीछे भी समय-समय पर वहां जाकर मैं अपने शहरीपन के बोझ को हलका करता रहा हूँ गांव मेरे लिए मनोरंजन की जगह है, तीर्थ है, और वह क्या नहीं है! गांव के खेत, मार्ग, तालाब, मंदिर पाठशाला, नदी, जंगल का मैंने उपयोग किया है, आनन्द लिया है। यहा के आदमियां में मेरे भाई बहिन, मेरे लंगोटिया यार और मेरे चाचा-ताऊ आदि रहे हैं। यहां का वातावरण आडम्बर, कृत्रिमता और तकल्लुफ के विकार से मुक्त रहा है। ऐसे ग्राम-जीवन के प्रति मेरा आकर्षण स्वाभाविक है। उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ!

मेरा गाँव—मेरा जन्म बाबैल गांव में हुआ। यह पंजाब के

करनाल जिले में और पानीपत तहसील में है। मैं इस गांव को अपना गांव कहता हूं। वहाँ अब कोई सगा सम्बन्धी नहीं, फिर भी कितने ही भाइयों से ऐसा स्नेह है जैसा रिश्तेदारों में भी कम होता है। हमारा घर कच्चा था, वह गिर-गिरा गया। पर जहां पहले एक घर अपना कहा जा सकता था, अब कई घर अपने हो गये हैं, चाहे जितने दिन ठहरो और जब चाहो वहाँ से चले आओ।

मेरा गांव पानीपत के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान से पूर्व दिशा में छः मील है। नजदीक से नजदीक शहर, रेलवे स्टेशन और तारघर पानीपत ही है। वहाँ से गांव जाने के लिए कच्चा रास्ता है। जमुना इस गांव से पहले लगभग एक मील थी, अब तो पास ही बहती है। पानीपत की तरफ के आदमी जमुना स्नान करने के लिए आते हैं, तो इस गांव में से होकर ही रास्ता है। इस प्रकार जमुना इस गांव का शहर से कुछ सम्बन्ध बनाये रखने में सहायक है। गांव के कुछ आदमी तो नित्य जमुना जी स्नान करने जाते हैं; रविवार, एकादशी, पूर्णमाशी, अमावश्या आदि के दिन उनकी संख्या अधिक रहती है। निदान, जमुना का इस गांव के जीवन पर खासा प्रभाव है।

मेरा जन्म; पिता जी—इस गांव में मेरे पूर्वज लगभग दो सौ वर्ष पहले आये थे। पहले वे जैसलमेर (राजस्थान) में रहते थे। वहां हमारी हवेलियाँ अब तक हैं। हम लोग कभी कभी विवाह शादी के लिए वहाँ जाते रहते हैं। हमारा निकास वहाँ का होने के कारण हमें जैसलमेरी (माहेश्वरी) कहा जाता है। अस्तु, मेरे पिता श्री मथुरादास जी इसी गांव के थे, और पास के दूसरे गांव में मुनीमी करते थे; कुछ लेन-देन का काम भी होता था। उनकी कुछ जमीन भी थी, जिसमें खेती करा दी जाती थी। गांव वाले हमें अधिकतर लेन देन करने वाले के रूप में जानते थे, और हमें बोहरा (व्यवहार करने वाले) कहते थे। क्योंकि गांव में कुछ ब्राह्मण-बोहरे भी थे, उनसे भिन्नता सूचित करने के लिए हम बनिये-बोहरे कहे जाते थे।

मेरा जन्म मिति आसौज सुदी ८, सम्वत १९४७ तदनुसार ता० २१ अक्टूबर १८९० ई० को हुआ। इसके अगले ही वर्ष पिता जी का देहान्त हो गया। इस प्रकार होश संभालने पर मैंने उन्हें नहीं देखा। मालूम हुआ कि खासकर आखरी समय में उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, उन्हें दमे का रोग था। मैंने गांव के आदमियों को उनके शील-स्वभाव और भोलेपन की प्रशंसा करते सुना है।

मेरा नाम—गांव में बालकों के नाम बहुधा ऊटपटाँग से भी रखे जाया करते हैं। हमारा घराना कुछ संस्कृत था। हमारे यहाँ सभी के नाम अच्छे थे। मैंने अपनी याद में अपना नाम भगवानदास के अतिरिक्त कुछ और नहीं सुना। यों, गांव में बड़ी उम्रवाले ही नहीं, साथी या यार-दोस्तों में 'भगवाना' नाम ही प्रचलित था। गांव वाले प्रायः आधा या छोटा नाम ही लिया करते हैं। इसमें कोई हीनता की भावना नहीं, यह उनका साधारण स्वभाव ही होता है। पाठशाला में तो प्रायः पूरा ही नाम लिखा जाता है। पीछे शहर में आने पर अन्य भाइयों के नामों की तरह मेरे नाम के साथ 'केला' और जुड़ गया। कुछ लोग इसे 'उपनाम' समझ लेते हैं। असल में यह उपजाति-सूचक है। माहेश्वरी-वैश्यों की अनेक खापों में से एक शारदा या केला भी हैं। हम 'केला' कहलाते हैं।

बड़ा होने पर, जब मैं पोकरण (जोधपुर) स्कूल में हेडमास्टर हुआ तो मैंने अपने नाम के साथ 'विद्यार्थी' जोड़ लिया। इस प्रकार पूरा नाम 'भगवानदास केला विद्यार्थी' हो गया। यह बहुत बड़ा था। इसे संक्षेप में अंगरेजी ढङ्ग पर 'बी० के० विद्यार्थी' लिखा जाता रहा। पर पीछे इसमें अंगरेजों की नकल की भावना मालूम पड़ी, इससे उसे छोड़ कर मैं पहले नाम पर ही आगया।

कभी-कभी नाम में 'दास' शब्द होना अखरा है, चाहे वह भगवान के साथ ही सम्बन्धित हो। पर यह भाव मन में कुछ स्थायी रूप से न रहा। खासकर इस विचार के आ जाने से कि भगवान का व्यक्त

रूप यह सृष्टि है, प्राणीमात्र में भगवान का अंश है। इस प्रकार भगवानदास का अर्थ लोक सेवक या प्राणीमात्र का सेवक है। मैं अपने नाम को इस अर्थ में कहाँ तक सार्थक कर रहा हूँ !

माता जी—मेरे जन्म के समय माता जी (रामप्यारी) की उम्र चालीस वर्ष या कुछ अधिक होगी। उनका स्वास्थ्य साधारणतः अच्छा था, शरीर कुछ भारी और कुछ ठिंगना था। उनकी दस-ग्यारह सन्तान में से उस समय हम तीन भाई और एक बहिन थी। मैं सब से छोटा था। मैं चार वर्ष का हुआ तब तक मेरे सबसे बड़े भाई श्री बालमुकन्द का, जो पटवारी थे और जिलेदार होने वाले थे, स्वर्गवास हो गया। पीछे मेरी एकमात्र बहिन रामदेवी ने भी हमसे विदा ली। संतान के इस वियोग ने माता जी को बहुत शोकातुर कर दिया था। उनकी आँखें कमजोर हो गयी थीं। उनके पावों (पिंडलियों) में प्रायः दर्द रहा करता था। हाँ, उन्हें महनत करने का अभ्यास था, इससे ज्यादा बीमार नहीं पड़ती थीं। उनमें इतनी हिम्मत थी कि आवश्यकता होने पर पानीपत से गाँव तक चार कोस पैदल चल लेती थी।

स्वाभिमान और स्वावलम्बन—हमारी आर्थिक स्थिति साधारण थी। भाई बालमुकन्द जी के देहान्त के बाद आमदनी का कोई खास साधन न रहा। जो थोड़ी सी जमा-पूँजी जेवर आदि के रूप में थी, वह कुछ समय में समाप्त होने वाली ही थी। हाँ, मेरे चाचा श्री लक्ष्मीचन्द जो सिविल ऐंजिनियर थे और 'पंडित' तथा 'रायबहादुर' उपाधि पाये हुए थे, बहुत अच्छी हालत में थे। वे बहुत उदार भी थे, उनसे सहायता मिल सकती थी। मेरे मामा भी कुछ मदद कर सकते थे। दोनों जग से कभी-कभी मदद मिली भी। पर बार-बार उन्हें याद दिलाना माता जी को ठीक नहीं जचता था। उनमें स्वावलम्बन की विलक्षण भावना थी। उन्हें अपनी सामर्थ्य पर भरोसा था।

पचपन साल की उम्र हो जाने पर भी माता जी ने अपने पुरुषार्थ से घर की आर्थिक स्थिति ऐसी रखी कि मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा बनी

रहे। वे कपास ओटतीं, सूत कातती, और कपड़ा सीती थीं। दिन में जितना भी समय काम करने का मिलता वे काम करती रहतीं। रात को भी, खासकर सर्दियों में बहुत देर तक कपास ओटने की चरखी चलती रहती, और फिर सबेरे जल्दी ही उठकर वे उसमें लग जातीं। चांदनी रात में, चन्द्रमा के प्रकाश में ही काम होता रहता था। अँधेरे के समय थोड़ा देर दिया जला कर आवश्यक व्यवस्था कर ली जाती थी, जिससे पीछे तेल का खर्च न हो। घर में आय का मुख्य साधन कपास ओटना था। इसमें कई बार बिनौले पूरे बच जाते थे अर्थात् रूई बेच कर कपास के दाम निकल आते थे। माता जी बिनौले समय-समय पर बेचती रहती थीं, जिससे रोजमर्रा का खर्च चलता रहे; वे रूई को जब कोई इकट्ठा मोल लेने वाला सौदागर पानीपत से आता था, तब बेचती थीं। एक साल रूई साठ रुपये से अधिक की बिकने की मुझे याद है।

रुपया इकट्ठा मिल जाने पर साल भर की जरूरत का अनाज आदि खरीद लिया जाता था, और कुछ रकम दूसरे खर्च के लिए बच रहती थी। सूत रूई का भी काता जाता था और रुअड़ का भी। सूत का कपड़ा बुनवा लिया जाता था, अथवा बदलवा लिया जाता था। इस प्रकार हमें कपड़ा मोल लेने का प्रसंग बहुत कम आता था।

माता जी की निगाह कमजोर होने से उनसे बारीक सिलाई का काम नहीं होता था, गांव में उस समय उसका चलन भी न था। वे प्रायः मोहल्ले वालों की दोहर, चद्दर, रजाई का गिलाफ और मिरजेई या बंडी आदि सिया करती थीं। किसी से कुछ सिलाई ठहराने की बात नहीं थी। किसान या जमींदार अपनी सुविधानुसार कोई चीज दे देता था। किसी के यहाँ से गुड़, घी, तिल आदि आ जाते थे, किसी के यहाँ से दूसरी चीजें। किसी के यहाँ से कोई चीज नहीं भी आती थी, पर उसका स्नेह और कृतज्ञता तो मिलता ही थी। निदान, अपने पुरुषार्थ और सद्व्यवस्था से माता जी को आर्थिक सहायता के लिए किसी के

आगे हाथ पसारना नहीं पड़ता था ; अनेक मौकों पर वे ही दूसरों की सहायता कर सकती थीं, और करती थीं ।

माता जी की लोकप्रियता—अपने व्यवहार के कारण माता जी का गांव भर में बहुत आदर मान था । उनकी लोकप्रियता इस लिए भी थी कि वे ओषधियों के रूप में काम आने वाली चीजों (हर्र, पीपल, अजवायन, सुहागा, काला नमक, सौंफ, सुरमा, अफीम, बादाम छुहारे, सोंठ आदि) का संग्रह रखती थीं । गांव की औरतों को जब ये चीजें मौके पर मिल जातीं तो वे बड़ा उपकार मानती थीं । इसका एक स्थूल परिणाम यह होता था कि गांव में होने वाली खाने पीने की चीजें—हरे शाक, गन्ना, सिंघाड़ा, मूली, गाजर, खरबूजा आदि—उनकी मौसम के आरम्भ में ही हमारे यहां काफी परिमाण में, और कई बार तो जरूरत से ज्यादा आने लगती थीं । कुछ स्त्रियों का तो यह नियम ही बन गया था कि जब उनके खेत या बगीचे आदि से कोई नयी चीज उनके घर आती तो वे उसे पहले हमारे यहां भेजती थीं ।

माता जी का स्नेह; मेरी सुकुमारता और अस्वस्थता—निर्धन घर का होते हुए भी मैंने माता जी के स्नेह के कारण अमीर लड़कों का सा जीवन बिताया । सम्भव है, माता जी के मन में यह विचार काम करता रहा हो कि मुझे यह सोचने का मौका न मिले कि मेरे पिता या कोई दूसरा बड़ा आदमी घर में नहीं है, इससे मेरे सुख या आराम में कुछ कमी रहती है । जो हो, मेरी पोशाक गांव के औसत बालकों की पोशाक से कम या घटिया नहीं रहती थी । गांव में बालक प्रायः जूता कम पहनते थे, पर मुझे याद है मेरे लिए कई बार जूते बनवाये गए, यद्यपि अपनी लापरवाही या भूल से मैं उन्हें विशेष समय रख न सका । अस्तु, यह कहा जा सकता है कि माता जी के लाड़चाव में अति थी । मुझे सर्दी से बहुत अधिक बचाया जाता; वर्षा या धूप में कभी घर से बाहर न रहने दिया जाता । शाम को घर आने में जरा देर हो जाती तो मुझे ढूढ़ने की पूरी

व्यवस्था की जाती। मुझे नदी पर नहाने को न जाने दिया जाता, जमुना जी कभी-कभी जाता तो दूसरों की सुपुर्दगी में। यद्यपि माता जी बहुधा चना, ज्वार, बाजरा, मक्कई आदि खाती थी, मेरे लिए प्रायः गेहूँ की ही रोटी बनती थी। गुड़, तेल आदि तो मेरे लिए वर्जित ही था। मैंने कूदना-फांदना, तैरना, पेड़ों पर तथा घोड़े पर चढ़ना न सीखा; गांव का होकर भी मैं स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, तथा सर्दी गर्मी और भूख-प्यास सहने वाला न हुआ, वरन् शहरियों की भाँति सुकुमार दुर्बल और रोगी रहा। इसलिए मेरे पालन-पोषण में माता जी तथा बहिन को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। बहिन की तो मुझे कुछ धुंधली सी ही याद है। माता जी कहा करती थी कि रामदेई तुझे दिन भर गोदी में लिए घुमाया करती थी, तथा तेरी दवा-दारू का प्रबन्ध करने में कुछ उठा न रखती थी। पीछे मेरे कुछ बड़ा होने पर मेरी बीमारी में श्री गुरु जी (पंडित अयोध्या-प्रसाद) ने बहुत परिश्रम किया है। इनके बारे में आगे लिखा जाएगा।

माता जी की शिक्षा—माता जी पढ़ी-लिखी न थीं, उन्हें सौ तक की गिनती भी ठीक से नहीं आती थी। रूई की बिक्री आदि के इकट्ठे रुपये गिनने का काम पड़ता था तो बीस-बीस की ढेरी लगा कर गिना करती थी। इस प्रकार पैंतालीस को वे दो बीसी और पांच कहतीं, साठ को तीन बीसी। जब मैं कुछ गणित सीख गया तो वे मुझसे हिसाब कराने लगीं। इस प्रकार वे मुझे पढ़ाई में कुछ मदद देने में असमर्थ थीं। उन्होंने मुझे खास उपदेशात्मक शिक्षा दी हो, ऐसा मुझे याद नहीं और विशेष उपदेश ग्रहण करने योग्य मेरी उम्र भी नहीं थी। तथापि उनके व्यवहार, बर्ताव या उदाहरणों का मेरे मन पर असर पड़ा ही होगा।

उनकी एक बात मुझे अच्छी तरह याद रही है। वे मेरी भाभियों को कहा करती थी, 'बहू! अपने से नीचे की ओर देख कर चलना ठीक रहता है।' उनका मतलब यह होता था कि हमें संतोष रखना चाहिए, अपने से अधिक धनवानों की नकल करना अच्छा नहीं, जो हम से भी

गरीब हैं, उनका विचार कर के हमें अपनी रीति-व्यवहार आदि करनी चाहिए। सामाजिक व्यवहार में यह शिक्षा कितनी उपयोगी है, यह मैं बड़ा होने पर ही समझ पाया। इससे मुझे अपनी आर्थिक स्थिति से असंतुष्ट होने का अवसर बहुत कम आया। यही नहीं, जब किसी भी प्रकार का कष्ट हुआ तो अकसर यह विचार आ जाता कि हमसे भी अधिक दुखी आदमी समाज में मौजूद है। हम उनसे तो अच्छी ही दशा में हैं। इस प्रकार माता जी से परीक्षा रूप में मिली हुई उपर्युक्त शिक्षा मेरे मन का संतुलन रखने में बहुत सहायक साबित हुई है।

एक मधुर स्मृति—बचपन की बहुत सी बातें तो अब याद नहीं, और जितनी याद हैं, उन सब का भी यहाँ लिखने का स्थान नहीं। एक बात का जिक्र करना जरूरी है। यों तो गाँव की सभी स्त्रियों का माता जी से स्नेह और सहानुभूति थी, पर एक बुढ़िया ब्राह्मणी का तो विशेष ही भाव था। वह उस समय भी साठ वर्ष से ऊपर की थी (उसने नब्बे-पिच्चानबे वर्ष की उम्र पायी)। मैं उसे दादी कहा करता था। वह अकसर शाम को भोजन करके हमारे यहाँ आ जाती थी, और रात को यहीं सोती थी। उसे यह पसन्द न था कि सबेरे के समय कोई मुझे हिला कर जगावे। वह अंधेरे ही उठकर मनोहर भजन गाने लगती थी, और जब मुझे उठाना होता तो भजन जरा जोर से गाती। उसके भजन का कुछ अंश यह होता था 'उठो रे कान्हा, धोओ रे मुखड़ा, खाओ रे माखन मिस्री।' जाग जाने पर कुछ देर तो मैं पड़ा-पड़ा इसका आनन्द लेता रहता। पीछे उठ कर कहता, 'दादी मैं उठ गया, ला माखन मिस्री दे।' इस पर खूब हँसी होती।

मेरी यह दादी सर्दी की मौसम में भी खुली जगह में सोती थी। मैंने कभी-कभी कहा कि दादी तू घर में भीतर क्यों नहीं सोती तो वह कहती 'बेटा! मैं ऐसी जगह सोना चाहती हूँ कि मुझे राम दीखता रहे।' मैं पूछता, राम कहाँ है तो वह आसमान (तारों और चन्द्रमा) की

तरफ इशारा कर देती। बड़ा होने पर मुझे मालूम हुआ कि गाँव की इस अशिक्षित महिला की बातों में कितना ज्ञान और अनुभव भरा था।

प्रयोग करने की प्रवृत्ति—बालकों के मन में अनेक बातों की जिज्ञासा रहती है, उनके मन में अनेक प्रश्न उठा करते हैं, जिनका प्रायः उत्तर नहीं दिया जाता, उनकी अनेक शंकाओं का समाधान नहीं होता। इससे उनके विकास में यथेष्ट प्रगति नहीं होती। मुझे अपने बचपन की दो बातें खास तौर से याद है। एक बार भाई की ससुराल से एक बढ़िया चाकू आया। कई आदमी उसे देख कर उसकी तारीफ कर रहे थे, कह रहे थे कि यह बहुत पक्का है। मौका पाकर मैंने चाकू लिया और उस पर एक लोहे का बाट दे मारा, इससे वह टूट गया। अब मैं उसे दूसरों को दिखाते हुए कहने लगा कि आप तो इसे पक्का कहते थे, यह तो कच्चा निकला, देखो यह टूट गया। इस पर सब कुछ नाराज से हुए, पर मेरी बचपन की बात पर मुस्कराने लगे और मुझे कुछ कहा-सुना नहीं। मेरी समझ में कच्चे और पक्के चाकू का भेद न आया।

मेरा दूसरा प्रयोग इस प्रकार दूसरों के सामने न होकर एकान्त में हुआ। माता जी मेरी खाने-पीने की इच्छाओं और आवश्यकताओं का इतना ध्यान रखती थी, कि मुझे प्रायः उनसे कोई चीज मांगने का अवसर नहीं आता था। एक बार मैंने सोचा कि मुझे नमकीन चीजें भी मिलती हैं, और मीठी भी; पर ऐसी चीज कभी नहीं दी जाती जो एक-साथ मीठी और नमकीन हो। माता जी से यह बात कहने को मन नहीं हुआ। उनकी अनुपस्थिति में मैंने स्वयं ही अपनी इच्छा पूरी करने का प्रयत्न किया। कर्छी में थोड़ी शक्कर ली; उसमें नमक और घी मिला कर गर्म किया। पीछे उसे खाने लगा तो जायका बहुत ही खराब मालूम हुआ। निश्चय हो गया कि ऐसी चीज खाने योग्य नहीं होती। माता जी ऐसी चीज मुझे नहीं देती, यह ठीक ही करती हैं। मेरा उक्त प्रयोग ऐसा अनुत्साहप्रद रहा कि मैंने माता जी से उसकी कोई चर्चा नहीं की।

मेरे गुरूजी

पंडित अयोध्याप्रसाद जी

जन्म—चैत्र शुक्ला ८, सं० १६२४ वि०

निवास-स्थान—किरमच, कुरुक्षेत्र (पञ्जाब)

मेरी प्रारम्भिक शिक्षा—पाँच वर्ष की उम्र में मैं स्थानीय पाठशाला में पढ़ने बैठा। उसमें एक ही अध्यापक थे—पंडित अयोध्या-प्रसाद जी। आपका मेरे सबसे बड़े भाई से मेलजोल ही नहीं, भाईचारा था, और मेरे चाचा श्री लक्ष्मीचन्द से भी बड़ी मित्रता थी। इस प्रकार आपका हमारे घराने से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण पाठशाला मेरे लिए सुपरिचित थी। मुझे वहाँ जाने में कोई डर नहीं लगता था। मैं यहाँ खुशी-खुशी चला जाता था। पर बचपन में मैं बीमार बहुत रहता था। कभी कभी कुछ समय के लिए मैं माता जी के साथ मेरठ भी जाता रहता था। इस प्रकार पाठशाला में मेरी उपस्थिति यथेष्ट न होती। वहां पढ़ाई के विषय तो भूगोल आदि भी थे, पर खास ध्यान पढ़ने, लिखने और हिसाब की ओर दिया जाता था। मैं लिखने में बहुत कमजोर रहा, अशुद्धियाँ बहुत करता था। बड़े होने पर नियमित रूप से हिन्दी सीखने का अवसर नहीं आया, इससे मेरी यह कमजोरी आखिर तक बनी रही। अस्तु, पहली कक्षा से आरम्भ करके मैं क्रमशः अगली कक्षा में चढ़ता रहा। सन् १९०१ में मैंने हिन्दी की पाँचवीं कक्षा पास करली।

गुरु जी का विशेष उपकार—गुरुजी की हमारे घराने से घनिष्ठता होने की बात पहले कही गयी है। आपके हमारे ऊपर अनेक उपकार रहे हैं। मेरी शोकातुर माता जी तथा बड़ी भाभी को धैर्य बंधाने में आपने भरसक योग दिया। मेरी भाभी को कुछ अक्षर-ज्ञान था। शाम के समय पाठशाला की छुट्टी होती तो गुरुजी प्रतिदिन हमारे घर आते। मैं, मेरी माताजी और भौजाई एक जगह बैठ जाते और गुरुजी मुझसे विष्णु-सहस्रनाम की कुछ पंक्तियाँ पढ़वाते, और मैं उन पंक्तियों को अपनी भौजाई से कहलाता। इस प्रकार मेरी बड़ी भौजाई क्रमशः विष्णु सहस्रनाम का पूरा पाठ करने लगीं। श्री गुरुजी महाभारत आदि की कथाएँ और दृष्टांत सुनाकर हमारे वे दुख के दिन काटने में बहुत सहायक हुए।

गुरुजी की उपदेशमय बातों को पूर्ण रूप से समझने की योग्यता मुझमें कहां थी, फिर भी मैं ऐसी शान्ति से आपके पास बैठा रहता था, मानों मैं बहुत अच्छी तरह उन्हें ग्रहण कर रहा हूँ। उन बातों का कुछ तो प्रभाव मेरे हृदय पर पड़ना स्वाभाविक ही था। मुझे भली भाँति स्मरण है कि मेरे पाठशाला से आते हुए, जब मुझे रास्ते की स्त्रियाँ मेरे भाई या बहन के देहान्त को लक्ष्य करके कुछ सहानुभूति के शब्द कहतीं तो मैं कहा करता था 'चाची (या ताई) ! क्या करें; भगवान की मर्जी।' यह सुनकर वे स्त्रियाँ कुछ आश्चर्य और प्रशंसा पूर्वक कहतीं—"देखो ! छोटा सा बालक, कैसी गंभीरता की बात कहता है।" किन्तु, वास्तव में मेरा उपर्युक्त कथन तो श्री गुरुजी के उपदेशों की प्रतिध्वनि मात्र होता था। हाँ, पीछे जाकर, जब मैं कुछ समझने लगा हूँ तो जीवन की अनेक दुखमय घटनाओं में 'भगवान् की इच्छा' का विचार ही मेरे चित्त को आश्वासन देने वाला हुआ है।

भूत-प्रेत के भय का निवारण—श्री गुरुजी हमारे गांव भर में एकमात्र शिक्षित वैद्य थे। मेरे रोगी रहने की दशा में उन्होंने मेरी चिकित्सा के लिए बहुत कष्ट उठाया। कई बार दिन में दो-दो तीन तीन बार मुझे देखने आये, और कभी कभी तो रात में भी घंटों मेरे पास रहे। बीमारी में मैं अकसर भूत-प्रेत से बहुत डरता था। गांव में यह साधारण बात थी। एक दिन, जब मैं सात-आठ वर्ष का हूँगा, गुरुजी ने मुझे समझा कर और अन्त में राक्षस-विनाशिनी दुर्गा का मंत्र बता कर कहा कि जब डर लगे इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। इससे मेरा डर निकल गया। पर पुराने संस्कार कभी-कभी अपना प्रभाव दिखाते रहे। एक दिन बहुत सबेरे आँख खुल गयी। घर में मैं अकेला था, चारपाई पर लेटा था। माता जी शौच के लिए बाहर गयी हुई थीं। मुझे मालूम हुआ कि दरवाजे के पास एक विशाल भूत बैठा है। मैं डरने लगा। पर मुझे एक बात से बहुत सहारा मिल रहा था। वह यह थी कि धीरे-धीरे उजाला होता जा रहा था, और मैंने सुन रखा

मेरे बचपन के गांव के साथी
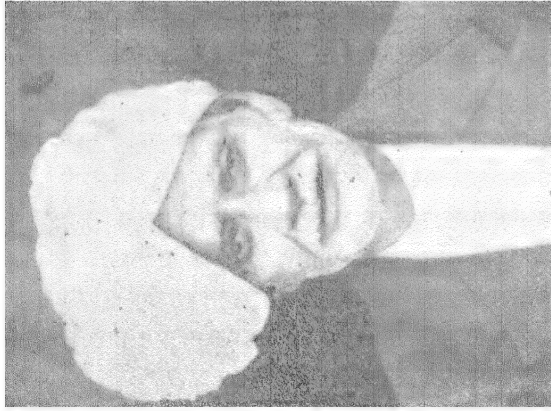
लाला चिरंजीलाल जी

पंडित ब्रह्मानन्द जी

था कि भूत प्रेत दिन में शक्तिहीन हो जाते हैं। फिर, आजतो यह मकान में बन्द है, कुछ देर में माताजी आ ही जाएँगी। क्रमशः मैंने देखा कि जिसे मैंने भूत समझ रखा था, वह एक मोटे पेड़ का ठूंठ था। मैंने अपनी कल्पना के अनुसार उसे आदमी का धड़ समझ रखा था, और उसमें हाथ मुंह आदि भी बना रखे थे। सबेरा होने पर मुझे अपनी भूल मालूम हुई। अब मुझे निश्चय हो गया कि भूत प्रेत वास्तव मे हमारी कल्पनाओं की सृष्टि हैं, वे वास्तव में कुछ नहीं होते। इस प्रत्यक्ष अनुभव से, मेरा डर निकल जाने में विलक्षण सहायता मिली।

हमारे गाँव की पाठशाला की विशेषता—हमारे गाँव की पाठशाला में एक विशेषता थी। हमारा गांव पंजाब में था, पर लाहौर (या शायद एक दो और जिलों) को छोड़कर, अन्य सब जिलों में हमारे गाँव में ही ऐसी पाठशाला थी, जहाँ पांचवी कक्षा तक की पूरी पढ़ाई हिन्दी में ही होती थी। अन्य सब स्थानों में प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू में होती थी और माध्यमिक शिक्षा के समय विद्यार्थी को उर्दू लेने के अतिरिक्त यह छांट करने का अवसर दिया जाता था कि वह चाहे तो संस्कृत ले या अरबी फारसी। इस प्रकार उन जिलों में हिंदी की शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। इसका नतीजा यह होना ही था कि हमारे गाँव के विद्यार्थियों के लिए हिन्दी की पुस्तकें आस-पास में कहीं भी न मिलें। वे लाहौर से मंगानी होती थीं। प्रायः साल के शुरू में जितनी जरूरत होती, पुस्तकें वी० पी० से मंगा ली जातीं; अगर वे कम पड़ जातीं तो जहाँ तक बन आता उनसे ही काम चलाया जाता। अगर पुस्तकें अधिक आ जातीं तो वे अगले वर्ष तक के लिए रखी रहतीं। पाठशाला का निरीक्षण करने के लिए जो डिप्टी इन्स्पेक्टर आदि आते, वे प्रायः हिन्दी नहीं जानते होते। वे जैसे-तैसे कामचलाऊ कार्रवाई कर जाते।

मेरे दो साथी—गाँव में पांचवी कक्षा में मेरे एक ही साथी थे—श्री (लाला) चिरंजीलाल। इनकी मेरी गाढ़ मित्रता थी। ये अकसर

हमारे घर आया करते थे। मेरी माता जी का ये दादी कहा करते थे। इन्होंने अपने चाचा के पास जाकर अंगरेजी का कुछ अभ्यास किया था, पीछे ये गांव में आ गये और घर का काम करने लगे। इधर कई वर्ष से ये अपना अधिकतर समय पूजा-पाठ में या धार्मिक साहित्य देखने और सतसंग करने में बिताते हैं।

गांव के जिस दूसरे सज्जन से मेरी घनिष्ठता रही, वे हैं पंडित ब्रह्मानन्द जी। पाठशाला में ये मुझसे एक कक्षा आगे थे। ये उम्र में तो मुझसे बड़े थे ही, शरीर में भी अच्छे हृष्ट-पुष्ट थे। ये अकसर यह ध्यान रखते थे कि मुझे कोई तकलीफ न हो। काफी समय के अध्यापक-जीवन के बाद अब ये अवकाश-प्राप्त हैं। बचपन के विद्यार्थी-जीवन के इन दोनों साथियों से अब (सन् १९५३) तक मेरा स्नेह और सम्पर्क रहा है। मई १९४६ में मैं गुरु जी के दर्शन करने शाहबाद (करनाल) गया, उस समय ये दोनों सज्जन भी वहाँ आ गये। गुरु-शिष्यों का यह मिलन अपूर्व आनन्द का रहा।

माता जी से विदा—गांव की पढ़ाई पूरी करने पर आगे का कुछ निश्चय न था। आखिर, जुलाई १९०१ में मेरे एक भाई (ताऊ जी के पुत्र) जगन्नाथ जी वकालत करने करनाल आ गये और यह निश्चय किया गया कि मैं उनके पास रहकर अंगरेजी पढ़ूं। अब तक मुझे माता जी से अलग रहने का विशेष अवसर न आया था। कभी-कभी व्याह शादी में दो तीन दिन के लिए गया तो भी घर की याद आती थी। अब तो लम्बे समय के लिए घर से बाहर रहने का प्रसंग था, इस समय मेरे मन की दशा का सहज ही अनुमान हो सकता है। इधर माता जी मुझे अपने पास रखने की दशा में भाई किशनलाल जी के दूर (मेरठ) रहने की बात बहुत-कुछ भूली सी रहती थी। मैं उनका सहारा था। अब मुझे भी जुदा करना पड़ रहा था। उनका जी भर आया; बोलीं—'बेटा अपनी जिन्दगी भर तो मैं तेरे (निर्वाह के) लिए बहुत हूँ; पर मैं सदा तो नहीं बैठी रहूँगी। तू कुछ पढ़-लिख कर होशियार हो जाए—इस वास्ते

तुझे अपने से दूर करती हूँ।' श्री गुरु जी भी मुझे विदा करने आये थे। आपने मुझे बहुत समझाया-बुझाया और बड़ी सान्त्वना देकर मुझे करनाल जाने वाले आदमी के साथ कर दिया। माँ से विदा, गुरु जी से विदा, साथियों से विदा, गांव से विदा!

गांव का वातावरण; आस्तिकता, भाग्यवाद, और प्रकृति से आत्मीयता—यहाँ ग्रामीण वातावरण और माता जी के कुछ विचारों की झलक दे देना आवश्यक है। माताजी जब सवेरे चारपाई से उठती थीं तो पृथ्वी को स्पर्श करके प्रणाम करती थीं और कहती थीं--'धरती माता बोझ संभालियो।....' मैं इन शब्दों का गूढ़ अर्थ नहीं समझता था, पर अपने मन पर इनके प्रभाव का अनुभव करता था।

खासकर सवेरे के समय परस्पर मिलने वाले आदमी एक दूसरे का अभिवादन करते थे। छोटा बड़े को हाथ जोड़ कर कहता 'चाचा (या ताऊ, दादा आदि) राम-राम! (या जयराम जी की), अथवा वह उसके चरणों में मस्तक नवाता। बड़ा छोटे को 'खुश रहो, बड़ी उम्र हो।' आदि कह कर आशीष देता था। इस प्रकार बालकों का प्रातःकाल पहला मुख्य काम घर के सब बड़ों को प्रणाम आदि करना होता था। बड़े परिवार में तो राम-राम की शृङ्खला ही बन जाती थी। जो बालक दूसरों को राम-राम न करता वह अच्छा नहीं समझा जाता था। अस्तु, मुझे 'राम-राम' करने का अभ्यास था और इसमें बड़ा आनन्द आता था।

पुरुषों में जिन्हें सुविधा होती, वे मन्दिर में स्नान करते, जिससे देव-दर्शन भी कर सकें। स्नान करते समय आदमी कुछ प्रार्थना-सूचक शब्दों का उच्चारण किया करते थे। गाव के कुछ ही आदमी संस्कृत जानते थे। दूसरे कितने ही व्यक्ति कुछ टूटी फूटी भाषा से काम चलाते अथवा साधारण पद्य कहते। माता जी (घर पर) स्नान करने के बाद नियम से कुछ देर पूजा किया करती थीं। उनके पास एक पत्थर का चौरस टुकड़ा था, उसमें मूर्ति की आकृति न होने पर भी उसे देवी की मूर्ति कहा जाता

था। इसे वे प्रति दिन स्नान कराती थीं, और कभी-कभी इसका प्रसाद भी बांटा करती थीं।

शाम को जब वे दिया जलाती तो उस समय भी कुछ प्रार्थना सी की जाती। मैं भी उनके शब्दों का उच्चारण करता। वे ये होते थे— 'संझा (संध्या) समरूं (स्मरण करूं), हर भजूं, लूं किशन का नाम, गंगा जी के गोत्री, तीनों हैं विश्राम।' इसी प्रकार सोते समय या कुछ पहले, दीया बुझाते समय वे कहा करती थीं—'दीये! अपने घर जा, सब से हमारी राम-राम कहियो, फिर बुलावें तब आइयो।' दीये जैसे पदार्थों से भी यह आत्मीयता!

पशुओं के प्रति भी बहुत स्नेह भाव था। हिन्दू गाय को माता तो अब भी कहते हैं पर उस समय, खासकर गांवों में भावना और भी अधिक थी। सवेरे उसका दर्शन शुभ समझा जाता था, उसका अभिवादन किया जाता था। मेरे एक भाई के यहां गाय थी, अकसर मैं उसे प्रातःकाल देखता और 'जय। गौ माता' कहता। हमारे यहाँ सवेरे रसोई बनती तो पहली रोटी गो-ब्राह्मण की मानी जाती, और वह रोज गाय को दी जाती। आखरी रोटी कुत्ते को दी जाया करती थी। यह नियम ही था। घर में गरीबी होने पर भी भिखारियों को—जो प्रायः सवेरे ही आया करते थे—कुछ अन्न या आटा देना जरूरी समझा जाता था।

वह वातावरण ही निराला था। घर में अगर चूहे ज्यादा हो जाते तो उन्हें पकड़ने या मारने का विचार न किया जाता। उल्टा, गणेश जी का गुड़िया (गुड़ के लड्डू) बनता, जिसमें से कुछ अंश घर में चारों ओर बखेर दिया जाता। यह समझा जाता था कि इससे गणेश जी (चूहे) प्रसन्न हो जाएंगे, फिर वे ज्यादा नुकसान न पहुँचाएँगे। वैज्ञानिक विचारधारा वाले आदमी ऐसे व्यवहार को मूर्खता-पूर्ण कहेंगे, पर गांव में इसकी सफलता में कोई शंका नहीं की जाती थी।

ग्रामीण समाज प्रायः भाग्यवादी ही होता है। किसी के यहां कोई बीमारी होती या मृत्यु आदि शोक का प्रसंग आता तो उसे भाग्य की बात कह कर यथा-सम्भव धैर्य और गम्भीरता से सहन किया जाता। कोई चीज गुम जाने या चोरी हो जाने पर, उसे भी भाग्य की ही बात समझा जाता, और उसकी विशेष चिन्ता न की जाती। बौद्धिक वर्ग चाहे जो कहे, इस वातावरण की अपनी विशेषता और महत्व था। अपने जीवन के आरम्भ में इसी के संस्कार मुझे मिले थे। इसमें दस वर्ष का समय बिता कर अब मैं शहर को चला था। देखूं, नया वातावरण कैसा होगा।

——

तीसरा अध्याय

शिक्षा-दीक्षा

'प्रकृति जिस मनुष्य का जितना विकास करना चाहती है उतनी ही कठिन बाधाएँ उसके मार्ग में रख देती है।'

—अज्ञात

जीवन के सारे क्लेश मेरे शिक्षक थे, जो मुझे आगे उन्नति के पथ पर धकेल रहे थे, और जब मैंने उनकी असलियत को समझ लिया तो वे मुझे छोड़कर भाग गये। उनका उद्देश्य मुझे ऊपर उठाना था और जब उद्देश्य पूरा हो गया तो वे मुझे विजयी बना कर चले गये। वे पहले मुझ से बड़े थे किन्तु अब वे छोटे हो गये : बड़ों को ज्ञान देना छोटों का काम नहीं।

—जेम्स एलन

प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में लिखा जा चुका; यहाँ आगे की बात कही जाती है।

उस समय का शहरी जीवन—आगे की पढ़ाई को उस समय प्राय: अंगरेजी की पढ़ाई कहा जाता था। इसके लिए मैं भाई जगन्नाथ जी वकील के पास करनाल आया। यह शहर हमारे गाँव से चौदह कोस दूर था। यहाँ के उस समय के जीवन की कुछ बातों का जिक्र करना जरूरी है। शहर में आदमी कपड़े की ओर बहुत ध्यान रखते हैं। उस समय भी यह बात कुछ अंश में थी ही। मैं गाँव से सिर्फ कुर्ता धोती लेकर आया था। यहाँ तो शहरी जीवन था, फिर एक वकील का भाई था। मेरे लिए कमीज, कोट, पाजामे बनवाये गये। यहाँ स्कूल में जाने वाले सब विद्यार्थी यही पोशाक पहनते थे। वैसे भी कुर्ते का चलन कम

था, प्रायः कमीज पहनी जाती थी। हाँ, आजकल की अपेक्षा पहनावे में सादगी ही थी।

हाई स्कूल शहर से लगभग डेढ़ मील दूर था। प्रायः विद्यार्थी वहाँ पैदल ही जाते आते थे। तीन सौ विद्यार्थियों में दो-एक के ही पास साइकल या दूसरी सवारी का प्रबन्ध था। पैदल चलना कुछ अखरता न था। प्रायः दो-दो चार-चार विद्यार्थी इकट्ठे चलते थे, और रास्ते में तरह तरह की गपशप करते थे; अगर आते समय रास्ते में ही स्कूल की घंटी बजती सुनाई देती थी तो दौड़ते हुए आते थे। इसमें कुछ बुरा नहीं समझा जाता था। सभी तो ऐसा करते थे। अध्यापकों में से भी अधिकांश पैदल आते थे। आज कल तो बात दूसरी ही है। जो अध्यापक या विद्यार्थी डेढ़-दो मील पैदल चल कर स्कूल आए तो उसे नीचे दर्जे के रहन-सहन वाला समझा जाए और वह भी लाचारी से ही पैदल चलता है। अब कितने ही स्कूल शहर से एक-दो फर्लांग दूर हैं तो भी वहाँ साइकल से पहुँचने वालों की भरमार रहती है।

शहरों में बाजार तरह-तरह की खाने-पीने की तथा अन्य शौकीनी आदि की चीजों से सटे रहते हैं। विद्यार्थी स्कूल में जाते समय इनकी ओर सहज ही आकर्षित हो जाते हैं और यदि उन्हें संयम का अभ्यास न हो तो वे उनका उपभोग करने के लिए लालायित हो जाते हैं। उस जमाने में भी स्कूल में एक दो खोमचे वाले आते थे और मिठाई आदि बेचा करते थे, अब तो बहुत से स्कूलों के पास बाकायदा दुकानें या होटल आदि हैं, जिनसे कुछ विद्यार्थी अपने चाय या नाश्ते आदि का सामान खूब लेते हैं। उस जमाने में 'चाय-चक्रम्' नहीं चला था। अब तो उसके अलावा पान-बीड़ी और सोडा लेमनेड आदि का भी आम-रिवाज है। शहरों और कस्बों में सिनेमा का व्यसन खूब बढ़ता जा रहा है।

शहर के आदमी बात व्यवहार में बहुत चतुर होते हैं। उनमें कृत्रिमता या दिखावा भी अधिक होता है। कुछ अपवाद होते हुए भी उनमें वास्तविक सहृदयता और सहानुभूति गाँव वालों की अपेक्षा कम

होती है; अब तो गाँव वालों में भी इन गुणों का ह्रास दिखायी देता है। उनमें से कुछ को तो यह फिक्र रहती मालूम होती है कि वे शहर वालों से कम चालाक न रहें। अस्तु, उस समय बाहरी आडम्बर, प्रदर्शन या तकल्लुफ इस समय के मुकाबले कम ही था।

हिन्दू मुसलमानों का आपसी सम्बन्ध—पहले कहा गया है कि मेरे बचपन में हिन्दू-मुस्लिम समस्या गाँवों में तो प्रायः थी ही नहीं, शहरों में भी बहुत कम थी। स्कूलों में जुदा-जुदा जातियों या सम्प्रदायों के विद्यार्थियों में भी बहुधा हार्दिक प्रेम या जिगरी दोस्ती होती थी। कोई अलहदगी या पृथकता की भावना नहीं मालूम होती थी। कभी-कभी कोई विद्यार्थी तुर्की टोपी ओढ़ता या सलवार पहनता तो उससे वह अलग जान पड़ता था, अन्यथा साधारण व्यवहार में सब समान थे। करनाल के स्कूल में एक मुसलमान विद्यार्थी ने उन दिनों मेट्रिक कक्षा में संस्कृत ले रखी थी और फार्सी पढ़ने वाले हिन्दू विद्यार्थी तो कितने ही थे। शहर में हमारे नजदीक एक मुसलमान वकील रहते थे। उनकी; भाई जगन्नाथ जी से मित्रता थी, वे कुश्ती के बहुत शौकीन थे; ये पहलवानों का बराबर स्वागत-सत्कार करते थे, चाहे कोई हिन्दू हो या मुसलमान। रामलीला आदि के खेल-तमाशों में दोनों जातियों के आदमी यथेष्ट सहायता देते और भाग लेते थे। मैं करनाल में सन् १६०१ से सात वर्ष तक रहा मुझे याद नहीं पड़ता कि इतने समय में वहाँ एक भी हिन्दू-मुस्लिम दंगा या उपद्रव हुआ हो। हाँ, इसके बाद मैं देहली गया तो वहाँ कभी कभी आपसी तनातनी की बात सुनने में आयी। पर उस समय भी राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करनेवाले कई मुस्लिम सज्जन थे।

भाई किशनलाल जी का साथ; डायरी रखनेका क्रम—जब से मैंने होश संभाला था मैं अपने भाई श्री किशनलाल के पास बहुत कम रहा था। मेरे बचपन में ही वे पढ़ने के लिए चाचा लक्ष्मीचन्द जी के साथ मेरठ चले गये थे। मैं जब कभी मेरठ जाता तभी उनसे मिलने का अवसर आता। उनका स्वभाव सरल और संकोची था। यहां तक

कि अपनी बीमारी आदि की बात भी दूसरों से न कहते थे; जब ज्यादा बीमार हो जाते, तब घरवालों को मालूम होता। उनके जीवन में बहुत सादगी, और मन में लोकसेवा आदि की ऊँची भावनाएँ थी। जब मैं करनाल पहुँचा, तो कुछ महीनों के लिए वे भी वहाँ आ गये। बात यह थी कि उस समय के आयु सम्बन्धी नियम के अनुसार उन्हें मेट्रिक की परीक्षा पंजाब के ही किसी स्थान से देनी थी। उन्होंने मुझे समय-समय पर कितनी ही बातें बतायीं; और खासकर मुझसे डायरी रखने का अनुरोध किया, जिसमें यह लिखा जाय कि सबेरे उठने से लेकर दिन भर का समय किस प्रकार बिताया, किस समय उठे, व्यायाम किया या नहीं, कौन-कौनसी पुस्तकें पढ़ी, किससे मिले या बातचीत की और कितने बजे सोये, आदि। पहले तो यह बात मुझे कुछ जची नहीं, पर वे मुझे बार-बार कहते रहे। आखिर, मैंने नोटबुक रखना आरम्भ कर दिया। इसका क्रम कई बार भंग हुआ या बदला गया, पर उसे छोड़ा नहीं। वह थोड़ा बहुत, किसी न किसी रूप में चलता रहा। पीछे में डायरी में आय-व्यय भी लिखने लग गया।

हाई स्कूल में प्रवेश—मैं साल के बीच में करनाल आया था। इसलिए स्कूल में अगला वर्ष आरम्भ हो जाने पर ही दाखिल हो सका। बीच में घर पर ही कुछ अंगरेजी का अभ्यास करता रहा। शहर के स्कूलों में प्रायः चौथी क्लास से अंगरेजी शुरू हो जाती थी। इस प्रकार वे विद्यार्थी पाचवीं क्लास पास करने तक दो वर्ष अंगरेजी पढ़ लेते थे। जो विद्यार्थी ऐसी पाठशालाओं से आते थे जहाँ पाँचवीं क्लास तक अँगरेजी नहीं पढ़ायी जाती थी, उनको यह कमी पूरी करने के लिए उन्हें एक साल स्पेशल क्लास में रहकर सिर्फ अंगरेजी ही पढ़नी होती थी। इसके बाद वे हाई स्कूल की छठी क्लास में भर्ती किये जाते थे। इस प्रकार मैं स्कूल में एक साल स्पेशल क्लास में रहा। उसमें मैं अच्छा रहा। मास्टर धनपतराय जी मेरे एकमात्र शिक्षक थे। उनका खूब

स्नेह था। वे आर्यसमाजी थे, और मैं हिन्दी-संस्कृत जानता था, इसलिए भी वे मुझे बहुत प्यार करते थे।

हिंदी उर्दू का सवाल—छठी क्लास में आने पर मुझे हिन्दी उर्दू के सवाल का सामना करना पड़ा। मैं जिस गांव में अब तक रहा और पढ़ा था, वह करनाल जिले में ही है। इस प्रकार यहाँ कोई नयी भाषा मेरे सामने नहीं आयी। हिन्दी और उर्दू, जहाँ तक बोलने का सम्बन्ध है, एक ही भाषा के दो रूप हैं। संस्कृत के शब्दों को हटा कर उनकी जगह फारसी अरबी के शब्दों को दे देने से हिन्दी उर्दू बन जाती है। गांववाले न ज्यादा संस्कृत जानते हैं और न ज्यादा फारसी अर्बी। उनकी भाषा आसान रहती है, तथापि शहर की भाषा समझने में मुझे विशेष कठिनाई न हुई। कठिनाई तो उसके लिखित रूप से आयी; मैंने अब तक देवनागरी लिपि सीखी थी, और यहाँ फारसी लिपि की बात थी। साधारण भाषा में, मैं हिन्दी का विद्यार्थी रहा था और यहाँ उर्दू से काम था।

स्कूल में उर्दू—स्कूल में मिडल (छठी-सातवी-आठवीं) क्लास के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए उर्दू लेना लाजमी था, यह एक अनिवार्य विषय था। इसके अतिरिक्त भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि की पुस्तकें उर्दू में थी। अंगरेजी सीखने का माध्यम भी उर्दू ही थी; अर्थात् अंगरेजी का अनुवाद उर्दू में करना होता था, और उर्दू से अंगरेजी में। इससे मुझे आरम्भ में बहुत कठिनाई प्रतीत हुई। धीरे-धीरे मैंने उर्दू का कुछ ज्ञान प्राप्त किया, तथापि मैं इस विषय में, तथा (उर्दू में पढ़ाये जाने वाले) भूगोल, इतिहास, और विज्ञान में कमजोर रहा। हाँ, अंगरेजी, हिसाब और संस्कृत में मैं अच्छा था, यहाँ तक कि मैं प्रथम या द्वितीय रहता था। मुझे अंगरेजी में निबन्ध तथा पत्र-लेखन का, और हिसाब में इबारती सवाल करने का बहुत शौक था। इस लिए मेरा काम चलता रहा। शिक्षक मुझे स्नेह करते थे, तथा मेरी परिस्थिति और कठिनाई का विचार करके मेरे साथ कुछ रियायत भी करते थे।

एक मजेदार घटना—स्कूल में एक डिबेटिंग क्लब थी, उसमें समय-समय पर विद्यार्थियों के भाषण या वाद-विवाद हुआ करते थे। उनमें भाग लेने की मेरी बड़ी रुचि रहती थी। पर मेरे सामने सदा भाषा की समस्या होती थी। अकसर मेरा झुकाव अंगरेजी की ओर रहता था। एक बार उर्दू में बोलने का प्रसंग आ गया। मुझे यह ठीक मालूम न था कि उपस्थित सज्जनों को सम्बोधित करने के लिए क्या कहना चाहिए। मैंने दूसरे विद्यार्थियों को 'जनाब मीर-मजलिस और दीगर साहबान!' कहते सुना था। सम्बोधन के इन शब्दों में से मैं 'मीर-मजलिस' का अर्थ नहीं जानता था और मुझे यह आशंका हुई कि कहीं हैडमास्टर साहब मुझसे अर्थ न पूछ बैठें। इसलिए मैंने इसे छोड़ देना ही ठीक समझा। मैंने आरम्भ किया—'दीगर साहेबान (अन्य सज्जनों)!' इस पर खूब कहकहा मचा। हेडमास्टर साहब तो मुझे कह ही बैठे—'क्या मीर-मजलिस (सभापति) से नाराज हो, दूसरे अध्यापकों ने उनसे कहा कि इसे उर्दू नहीं आती। पर यह बात शायद हैडमास्टर साहब जानते ही थे। अस्तु, सब को हंसी दिलाने वाली इस घटना का रहस्य मुझे पीछे मालूम हुआ, जब मेरे सहपाठियों ने मुझे 'दीगर' शब्द का अर्थ बताते हुए समझाया कि मेरा सम्बोधन कितना बेतुका था।

अंगरेजी का शौक—ऐसी घटनाओं का प्रभाव यह हुआ कि मैं अंगरेजी की ओर अधिकाधिक झुकने लगा। मिडल अर्थात् आठवीं क्लास तक स्कूल में उर्दू एक अनिवार्य विषय था।* इसमें मैं बहुत कमजोर था और हिन्दी का वहाँ विशेष काम नहीं पड़ता था। इस प्रकार भाषाओं में मेरे सामने अंगरेजी ही रहती थी। मैं छटी क्लास में ही पाठ्य-क्रम से बाहर की अंगरेजी की पुस्तकें लायब्रेरी से लेकर पढ़ने लग गया था। प्रारम्भ कहानियों की पुस्तकों से हुआ, पीछे क्रमशः जीवनचरित्र

---

*स्कूल में उर्दू पढ़नी पड़ी, उससे मुझे उर्दू के बहुत से शब्द, मुहावरे तथा कविताएँ समझना सुगम हो गया। मेरी भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

और नीति आदि का नम्बर आया। इन पुस्तकों के पढ़ने से मेरी अंगरेजी की योग्यता बढ़ना स्वाभाविक ही था। मिडल पास करने पर उर्दू का झंझट न रहा। मेट्रिक (एंट्रेंस) में सब विषय अंगरेजी में थे। यह मेरे लिए बहुत सुविधाजनक हुआ। अब मेरा अंगरेजी का शौक और भी बढ़ गया। निबन्ध और पत्र-लेखन में मेरी योग्यता की प्रशंसा होती थी; कई बार प्रतियोगिता हुई, उसमें मेरा स्थान अच्छा रहा। प्रायः अध्यापक बहुत प्रसन्न और कृपालु रहे।

निःरस जीवन—तास, शतरंज या खेल-कूद का मुझे कुछ शौक न था। सबेरे शाम घूमने जाने की रुचि थी, यह काम नियम-पूर्वक तो नहीं, पर अकसर हो जाता था। कभी-कभी मैंने मील या दो मील तक की दौड़ भी लगायी है। इस प्रकार यह समय एकान्त का ही रहता था। घर में भी जीवन बहुत-कुछ निरस था। प्रेम का अभाव प्रतीत होता था। परायेपन की भावना थी। माता जी कभी-कभी यहाँ आ जाती थीं, और कभी मैं भी उनके पास गाँव हो आता था। पर कुल मिला कर यह बहुत ही कम हो पाता था। अधिकांश समय तो माताजी से अलग रह कर ही बिताना था। घर पर मन नहीं लगता था।

घर छोड़ने का प्रयत्न—यद्यपि भाई जगन्नाथ जी का स्वभाव कुछ तेज था, मुझे उनकी अप्रसन्नता सहने का अवसर कम ही मिला। वे मुझे खासा प्यार करते थे, और मैं अपनी पढ़ाई का काम ठीक करके उन्हें खुश रखता था। पर बालकों के लिए घर अच्छा लगना न लगना बहुत-कुछ स्त्रियों के स्वभाव पर निर्भर होता है; भोजन आदि की व्यवस्था उनके ही जिम्मे रहती है। मुझे अपनी भाभी का व्यवहार बहुत कष्टप्रद प्रतीत हुआ, यह बात भाई जी से छिपी न रही, पर वे कुछ स्थायी सुधार न कर सके। मैंने बोर्डिंग (छात्रालय) में दाखिल होना चाहा; पर भाई जी ने इसे अपने लिए अच्छा न समझा। एक बार मैंने मेरठ रहने का निश्चय किया, पर उसमें भी सफलता न मिली। अन्त में एक दिन मैंने घबरा कर घर छोड़ जाने का विचार किया, उस समय भाई जी

मेरठ गये हुए थे। संयोग की बात! जिस गाड़ी से मैं करनाल से रवाना होने वाला था, उसी गाड़ी से भाई जी मेरठ से आ गये, और मुझे उनके साथ घर लौटना पड़ा।

घर के निःरस जीवन का एक अच्छा पहलू भी था। धीरे-धीरे मुझे कष्ट सहने की आदत पड़ चली, अब मैं पहले जैसा सुकुमार और रोगी न रहा। यहाँ स्वास्थ्य साधारणतया ठीक रहा, और, गाँव की अपेक्षा तो निस्सन्देह बहुत अच्छा रहा।

पेशे के चुनाव सम्बन्धी विचार—भाई जगन्नाथ जी के एक मित्र नहर विभाग के अधिकारी थे। उन्हें हम लोग डिप्टी साहब कहते थे। बहुधा जब वे और भाई जी घूमने जाते थे तो मैं भी उनके साथ जाया करता था। इस प्रकार डिप्टी साहब मुझसे स्नेह करने लगे। कालान्तर में उन्होंने मुझसे पूछा तुम पढ़ने-लिखने के बाद क्या काम करोगे। मैं इस प्रश्न का उत्तर न दे सका। पर डिप्टी साहब अपनी बात छोड़ने वाले न थे। मैं कहने लगा कि मुझे क्या मालूम, घर वाले मुझसे क्या काम कराएँगे, जो कुछ काम मुझे दिया जाएगा, उसे यथा सम्भव अच्छी तरह करूँगा। पर इससे डिप्टी साहब का संतोष नहीं हुआ, और मैं इस प्रश्न पर विशेष विचार करने को बाध्य हुआ। भाइयों की बातचीत से मालूम हुआ कि वे घर के बड़े परिवार के लिए एक डाक्टर की आवश्यकता समझते हैं और इसलिए चाहते हैं कि मैं भविष्य में सिविल सर्जन बनूं। बस, मैंने भी यह बात पकड़ ली। सोच लिया कि मुझे सिविल-सर्जन बनना है, इसलिए सायंस की पुस्तकें खूब पढ़नी चाहिए। क्रमशः मैं इस ओर अधिक ध्यान देने लगा।

परिवार पर घोर वज्रपात—मार्च १६०७ में ताउन की बीमारी से हमारे कुटुम्ब में एक-साथ आठ मौतें हो गयीं। इन्हीं में भाई जगन्नाथ जी और किशनलाल जी थे, तथा रायसाहब (चाचा जी) के तीन पुत्र भी थे। अब घर-गृहस्थी का भार रायसाहब के एक-मात्र शेष पुत्र भाई गिरधारीलाल जी पर ही पड़ गया। मेरी पहले बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ

थीं, यह विचार होता था कि सिविल सर्विस के लिए मुझे इंगलैण्ड भेजा जाएगा। अब, ऐसी बातें हवा हो गयीं। शोक-संतप्त माता जी अब मेरी आगे पढ़ाई कराने के पक्ष में न रही थी। घर की आर्थिक अवस्था भी कुछ अनुकूल न थी। तथापि भाई गिरधारीलाल जी ने हिम्मत करके मेरा पढ़ाना जारी रखने का निश्चय किया। मैं उस समय करनाल में मेट्रिक में पढ़ रहा था, भाई जगन्नाथ जी का देहान्त हो जाने से वहाँ अब परिवार के रहने की व्यवस्था नहीं रही थी, मेरी मेट्रिक की पढ़ाई वहाँ ही जारी रखने के लिए मुझे बोर्डिंग में दाखिल कराया गया। बोर्डिंग में रहने की मेरी इच्छा बहुत समय से थी, कौन जानता था कि वह इस प्रकार पूरी होगी।

स्कूल की पढ़ाई; राजभक्ति की शिक्षा—मैं स्कूल में सन् १९०८ तक रहा। इस प्रकार जब देश में सन् १९०५ में बंग-विच्छेद की घटना से राष्ट्रीय जागरण की लहर चल रही थी, मैं स्कूल में पढ़ रहा था। पर स्कूल सरकारी होने से यहाँ विद्यार्थियों में कोई चेतना ही नहीं थी। ढाई-सौ तीन सौ विद्यार्थियों में समाचार-पत्रों को पढ़ने वाले कुछ इने-गिने ही थे। स्कूल में अखबार कम ही आते थे, वे उर्दू या अगरेजी के होते थे। डिबेटिंग क्लब थी, पर विद्यार्थियों को राजनैतिक विषयों की चर्चा से दूर रखा जाता था। निरीक्षण के लिए जब इन्सपेक्टर आदि आता तो हफ्तों पहले से तैयारी की जाती थी। जुदा जुदा क्लासों के विद्यार्थियों को उस दिन खास खास निर्धारित रंग के साफे (दुपट्टे) बांध कर आने की हिदायत दी जाती। प्रायः साफे एक ही रंगरेज से रंगाये जाते, जिससे एक-एक क्लास के सब विद्यार्थियों के साफों का रंग एकसा ही हो, उसमें अन्तर न हो। उर्दू अंगरेजी की राजभक्ति-सूचक कविताएँ कंठ करायी जाती थी। इन्स्पेक्टर साहब को चाहे दूसरी चीजें देखने-सुनने की फुरसत न हो, प्रायः सभी क्लासों के एक-एक दो-दो विद्यार्थियों से ऐसी कविता अवश्य सुनते थे। विद्यार्थियों के भाषण के विषय अधिकतर 'अंग्रेजी हुकूमत के फायदे', 'रेलों से लाभ', 'डाक तार की

उन्नति', आदि होते थे। उर्दू तथा अंगरेजी की पाठ्य पुस्तकों में ऐसे पाठ काफी होते थे। इस प्रकार विद्यार्थियों को भरसक राजभक्ति सिखायी जाती थी। अध्यापक अधिकतर हेडमास्टर की हाँ में हाँ मिलाने वाले तथा खुशामदी होते थे, और हेडमास्टर इन्स्पेक्टर के आज्ञाकारी सेवक होते थे। स्कूलों का उद्देश्य राजभक्त युवक बनाना होता था।

राष्ट्रीयता की हत्या—स्कूलों को राष्ट्रीयता छूने नहीं पाती थी। इसका ज्वलंत उदाहरण मेरे सामने उस समय आया जब मैं **दसवीं** क्लास में था। उन दिनों वहाँ एक मुसलमान हेडमास्टर थे। उनका नाम था एफ० एम० खाँ। ये महाशय इंगलैंड से 'रैंगलर' (गणित रत्न) होकर आये थे। इनकी वेष-भूषा अंगरेजों की सी थी; संयोग से इनका रंग भी गोरा ही था। ये अंगरेजों से ही मिलने-जुलने में खुश रहते थे। डिप्टी कमिश्नर और सिविल सर्जन आदि से इनका बड़ा मेल था। हिन्दुस्तानियों को ये बहुत नीचे दर्जे का मानते थे और प्रायः उनके दोषों की ही चर्चा करते रहते थे। उन्हें इस बात का दुख था कि वे हिन्दुस्तान में पैदा हुए, जहाँ की भाषा, सभ्यता, कला-कौशल, रीति रस्म, व्यवहार आदि में उन्हें कोई भी खूबी नजर नहीं आती थी। मुझे खूब याद है कि एक दिन उन्होंने पढ़ाते समय विद्यार्थियों से अंगरेजी शब्द 'करेक्टर' का अर्थ पूछा। हमने जवाब दिया—'चाल-चलन'। इस पर आपने कहा इस चालचलन शब्द में वह भाव कहाँ, जो अंगरेजी शब्द 'करेक्टर' में है। अंगरेजी शब्द अमुक धातु से निकला है, और इस में इतने विचारों और भावों का समावेश है। हिन्दुस्तानी भाषा के किसी भी एक शब्द में इतना अर्थ नहीं हो सकता। हिन्दुस्तानियों का 'करेक्टर' ही नहीं है। इस प्रकार वे घंटा भर व्याख्यान देते रहे तो भी उनकी बात पूरी नहीं हुई।

उन के जमाने में स्कूल में हाकी, फुटबाल आदि खेलों की खूब उन्नति हुई, कई इनाम मिले, लायब्रेरी में अंगरेजी किताबों की वृद्धि हुई, कुर्सी मेज आदि सामान बहुत बढ़ा। मैट्रिक की परीक्षा का परिणाम

अच्छा रहा, पन्द्रह में से तेरह विद्यार्थी पास हुए और उनमें से अधिकांश प्रथम और द्वितीय श्रेणी में। इससे दूर दूर तक स्कूल की धाक जम गयी। हाँ, बढ़िया परीक्षा फल का वास्तविक रहस्य कुछ इने-गिने लोगों को ही मालूम हो सका। बात यह थी कि इन्होंने चौंतीस विद्यार्थियों में से जो कमजोर थे, उन्हें मार मार कर निकाल दिया था। ये शारीरिक दंड चरम सीमा का देते थे, बात बात में बेंत लगाना इनके लिए मामूली बात थी। इनकी मार के सामने कमजोर विद्यार्थियों में से केवल वहीं ठहर सका, जिसका और कोई ठिकाना न था और जिसके माता पिता अपने पुत्र को मेट्रिक की परीक्षा मे बैठाने पर ही तुले हुए थे। अस्तु, असल में परीक्षा-फल पंदरह में से तेरह की जगह चौंतीस में से तेरह पास समझना चाहिए। पर इसे बाहर के कितने आदमी जान सकते थे! मेरे हृदय में पर इनकी निर्दयता के अतिरिक्त खास चोट करने वाली बात यह थी कि ये राष्ट्रीय भावों की बुरी तरह हत्या करने वाले थे। वैसे व्यक्तिगत रूप से मैं इनका कृतज्ञ हूं। खासकर हमारे पारिवारिक संकट का विचार करके इन्होंने मुझसे बहुत सहानुभूति दर्शायी थी और मुझे आगे पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते हुए मिशन कालिज देहली के प्रिंसीपल को मेरी फीस माफ करने के लिए सिफारिशी पत्र दिया था। कई वर्ष बाद मैंने इनसे लाहोर में भेंट की थी। ये बड़े स्नेह भाव से मिले थे।

देहली का मिशन कालेज; सरकार का रुख—देहली में उस समय दो कालिज थे—हिन्दू कालिज और मिशन कालिज। इनमें से हिन्दू कालिज की आर्थिक स्थिति खराब थी, पढ़ायी भी अच्छी नहीं थी। इसलिए तथा फीस-माफी की दृष्टि से मैं मिशन कालिज में दाखिल हुआ। वहाँ एक विशेषता और थी राजनैतिक विषयों की चर्चा अधिक स्वतन्त्रता-पूर्वक की जाती थी। ईसाई संस्था होने से सरकार का रुख इसकी तरफ विशेष कड़ा न था; वैसे वह कुछ सशंक तो रहती थी; कारण, सुप्रसिद्ध लाला हरदयाल ने इसी कालिज में शिक्षा-दीक्षा पायी

थी। अस्तु, हिन्दू कालिज की अपेक्षा इस कालिज का वातावरण अधिक उन्मुक्त था, और विद्यार्थियों को सरकारी कोप का भय भी कम था।

महामना एन्ड्रूज—यहाँ प्रोफेसरों का व्यवहार बहुत अच्छा प्रतीत हुआ। वे अधिकतर और हसमुख स्नेहशील थे। उन दिनों श्री सी० एफ० एंड्रूज भी यहाँ के शिक्षकों में थे। हमारा कोई खास विषय उनके पास न था, तथापि कभी-कभी उन्होंने हमारी क्लास भी ली, खासकर बाइबल सम्बन्धी। उनकी विविध गुणावली से उस समय मेरी जानकारी न हो सकी, तथापि उनकी एक बात का मेरे मन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। वे कालिज में वाइस-प्रिंसीपल थे। उन्हें प्रिंसीपल का पद दिया जा रहा था; यह समझा जाता था कि यथासम्भव एक अंगरेज को किसी हिन्दुस्तानी के अधीन रह कर काम नहीं करना चाहिए। परन्तु महामना एंड्रूज ऐसे तुच्छ विचार वाले न थे। उन्होंने आग्रह किया कि श्री एस० के० रुद्रा ही प्रिंसीपल रहें। पीछे तो श्री एंड्रूज ने अपनी उदार हृदयता का खूब ही परिचय दिया। उनके ईसाइमत में कोई संकीर्णता न थी, वे सच्चे धर्मात्मा थे, लोकसेवी और विश्व प्रेमी मानव थे।

मेरी एफ० ए० की पढ़ाई; अंगरेजी का मोह—भाई जी का, मुझे एञ्जिनयरिंग के लिए रुड़की भेजने का विचार था, इसलिए मैंने सायंस और गणित का विषय लिया। पर पीछे मालूम हुआ कि गणित में अब मेरी वैसी रुचि नहीं है जैसी मेट्रिक तक थी। एफ० ए० की पढ़ाई के समय मैं अधिकतर बोर्डिंग में ही रहा। हाँ, दूसरे वर्ष के आरम्भ में छः मास माता जी तथा छोटी भाभी के साथ, शहर में मकान लेकर रहा। यहाँ मैंने कुछ समय ट्यूशन भी की थी। और, जब प्रथम बार मुझे ट्यूशन के रुपये मिले, और मैंने उन्हें माता जी के हाथ में रखा तो उनके हर्ष का ठिकाना न रहा।

कालेज में पढ़ते समय मुझे अंगरेजी के ही पत्र-पत्रिकाओं को देखने का चाव था। डिबेटिंग क्लब में मैं अंगरेजी में भाषण करता था। मेरे कुछ भाषण वहाँ बहुत पसन्द किये गये थे। लायब्रेरी में हिन्दी की पुस्तकें या पत्र प्रायः न आने से वहाँ उन्हें देखने का अवसर बहुत ही कम आता। अखबार में छपाने के लिए लेख मैंने पहले अंगरेजी में ही लिखे।* हम कालिज में पढ़ने वालों के लिए हिन्दी उर्दू की बात करना कुछ जचता नहीं था। जब कभी सार्वजनिक सभाओं के अधिवेशनों में जाना होता तो वहाँ ही 'देशी भाषा' सामने आती, वहाँ कविता और भाषण जनता की भाषा में होते थे। अन्यथा हम लोग अपने को जनता से ऊपर उठा हुआ समझते थे। हम शिक्षित वर्ग के थे। हमारे व्यवहार की भाषा अंगरेजी थी, यद्यपि हम स्वदेश-प्रेमी और स्वदेशी के भक्त बनते थे।

देहली जीवन पर एक नजर—मेरा देहली का समय देश में राजनैतिक आन्दोलन का समय था। लोकमान्य तिलक को सजा इसी बीच में हुई थी। शहर में राष्ट्रीय सभाएँ खूब होती थी। मैं उनमें जाने लग गया था। विविध विषयों की बाहरी पुस्तकें पढ़ने का शौक पहले से था ही। यहाँ मेरा स्वास्थ्य भी प्रायः खराब हो रहा। इस प्रकार पढ़ने में जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था, मैं न दे सका; कई विषयों में कुछ कमजोर ही रहा; वैसे मेरे शिक्षक तथा बहुत से सहपाठी मुझसे बड़ा स्नेह रखते थे। बोर्डिंग में रहने वाले कुछ साथियों का बड़ा अच्छा संगठन था। हम एक दूसरे को आवश्यकतानुसार सत्परामर्श और सहायता देते थे, और एक दूसरे के दुख-सुख में सहानुभूति रखते थे। एक बार मेरे प्रस्ताव करने पर, हिन्दू कालिज की सहायता के लिए लगभग सौ रुपये का चन्दा विद्यार्थियों ने ही एकत्र कर दिया था।

---

* अनुभव न होने से, मैंने सम्पादक की जानकारी के लिए भी अपना नाम नहीं दिया गया, इससे वे प्रकाशित नहीं हुए।

माता जी से भेंट—एफ० ए० की परीक्षा के बीच में मुझे चार दिन का अवकाश था। मैं जानता था कि परीक्षा समाप्त होते ही मुझे रुड़की जाने की तैयारी करनी है, अतः अब जल्दी ही माता जी से मिलने के लिए गाँव जाने की सुविधा न होगी, अतः मैंने इस अवकाश के समय ही वहाँ जाने का निश्चय किया। मैं माता जी के वास्ते, चार रुपये, तथा पेपरमेंट, अजवायन का सत आदि की कुछ औषधियाँ आदि लेता गया कि आवश्यकता के समय काम आएँ। गाँव से लौटते समय बार-बार मन में यह विचार आता था कि इसके बाद माता जी से कब मिलना होगा।

"संकट के समय मेरी रक्षा करो, यह मेरी प्रार्थना नहीं है। लेकिन संकट को देखकर डरने न पाऊँ, यही मैं चाहता हूँ। मैं यह भी नहीं चाहता कि दुःख-ताप से यदि मेरा चित्त व्यथित हो तो तू सान्त्वना दे, लेकिन दुःखों पर मैं विजय पासकूं इतनी शक्ति मुझे दे, इतना ही मैं चाहता हूँ। आवश्यक सहायता मुझे न मिली तो मैं हिम्मत न हारूं मेरा बल क्षीण न होने पाये, इतना ही मैं चाहता हूँ।" मुझ पर जो बोझ है, वह हलका हो, ऐसी सहायता मैं नहीं चाहूँगा। लेकिन जितना बोझ मुझपर आयेगा उसे उठाने की शक्ति मुझे दें, यही मैं चाहूँगा। सुख के समय गर्वोन्मत न होकर नम्रता से मैं तुझे पहचान सकूं और जब दुःख की रात्रि आये, सर्वत्र अंधेरा छा जाये और पांव तले की धरती भी खिसकने लगे, ऐसे समय भी तेरे बारे में, तेरी हस्ती के बारे में और तेरी कृपा के बारे में मन में तनिक भी सन्देह न पैदा हो, इतना ही मैं चाहता हूँ।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

चौथा अध्याय

देश सेवा की प्रेरणा

पुत्र साथ तेरे रहती हूँ;
तेरे हित में चित्त धरती हूँ।
इस कारण जो कुछ कहती हूँ.
सुनकर उसे हृदय में धरना ॥

पर - दुख को अपना दुख समझो;
देश मात्र को अपना जानो।
पुत्र ! वृथा ही हठ मन ठानो;
सीखो तुम पर दुख को हरना ॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय

मेरे जीवन का केन्द्र, माताजी—मेरे जीवन का केन्द्र माता जी थीं। जिस धुरी पर मेरा जीवन-चक्र घूमता था, वह मातृ-प्रेम था। मातृ भक्ति का मूल मंत्र मैंने बचपन में ही सीख लिया था। उन दिनों की याद अब भी मन में बनी है। मैं पाठशाला में पहली कक्षा में पढ़ता था, अक्षरों की पहचान हुई, थोड़ा-थोड़ा पढ़ने लगा तो प्राइमर के अन्त में दी हुई कविता बड़े उत्साह से कंठ करनी चाही; वह पूरी याद नहीं हुई, कुछ अधूरी सी ही याद हो पायी; तो भी बड़ा आनन्द और अभिमान-सा हुआ, और पुस्तक का सहारा ले-लेकर मैंने इसे अपनी माता जी को सुनाया; वे सुनकर बहुत प्रसन्न हुईं और उन्होंने मुझे बहुत प्यार किया। कविता की कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं—

मेरी प्यारी अम्मा, मेरी जान अम्मा ॥ टेक ॥
कभी अपनी गोदी में मुझको लिटाना।
कभी मीठी बातों से मुझको हंसाना ॥
कभी प्यार करना, गले से लगाना।
न हित तेरा मुझको उचित है भुलाना ॥
मेरी प्यारी अम्मा० ॥ १ ॥
बहुत तुमने की मेरे साथ भलाई।
मेरे वास्ते बहुत मेहनत उठाई ॥
प्रभु आयु-धन मुझको देवे जो भाई।
तुम्हारी मैं दिल से करूं सेवकाई ॥
मेरी प्यारी अम्मा० ॥ २ ॥

इस समय भी गांव की पाठशाला में बालक तथा बालिकाएं यह कविता सीखती हैं, और मुझे इनके सुनने का बड़ा शौक है। आह! "तुम्हारी मैं दिल से करूं सेवकाई"—यह पंक्ति मुझे अपने जीवन में विशेष मार्मिक प्रतीत हुई है। इस प्रसंग की एक बात और है। पाठशाला में एक ज्योतिषी आया था, दूसरे विद्यार्थियों ने उससे तरह-तरह के प्रश्न पूछे थे; मैंने जो विशेष प्रश्न किया था, वह यही था कि क्या मैं माता जी की सेवा कर सकूंगा। बचपन में मैं उनकी सेवा कर ही क्या सकता था! मैं सोचा करता था कि मेरे बड़े होने पर माता जी मेरे पास रहेंगी, तब उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना होगा। वे आराम से जीवन बिता सकेंगी। मैं चाहता था कि वह समय जल्दी आजाए; मैं जल्दी-जल्दी पढ़ लूँ।

आशा पर कुठाराघात—एफ० ए० की परीक्षा होने पर, पूर्व योजनानुसार मैं ऐंजिनयरिंग की प्रवेश-परीक्षा के लिए रुड़की गया। उस परीक्षा की तैयारी के लिए केवल दो मास का समय था। फिर, इस परीक्षा में, प्रतियोगिता में बी० ए०-पास तथा खूब तैयारी किये हुए उम्मेदवार बैठते थे। अतः पहले ही यह सोच लिया गया था कि इस

साल तो सफल होना कठिन ही है, कुछ अनुभव हो जाएगा जो अगले साल काम आएगा। जब कि मैं रुड़की में ही था, समाचार मिला कि माता जी का देहान्त हो गया। क्या यह सच है! क्या मैं इसका विश्वास करूँ? माता जी ने मुझे अपनी बीमारी की सूचना भी नहीं दी? मैं अन्त समय उनके दर्शन कर लेता? वे चाहती थीं कि मैं उनके बारे में चिन्ता न करूँ। वे चुपचाप मुझे छोड़ कर चली गयीं। क्या ही अच्छा होता कि मैं दो वर्ष पहले ही अपनी पढ़ाई समाप्त करके उनकी कुछ सेवा करने का अवसर पा जाता। पर अब क्या हो! मेरी इच्छा मन की मन में रह गयी। अब मैं जीकर क्या करूँगा? अपना जीवन निष्फल समझ कर मैं मृत्यु की कामना करने लगा।

संजीवन-संदेश—एक एक दिन करके मुझे मेरठ में दो महीने होने आए, न शोक ही हटा, और न शरीर ही ठीक हुआ। जैसे भी बनता मैं किसी न किसी काम में मन लगाने का विचार करता और अधिक से अधिक समय घर से बाहर रहने की बात सोचता। इससे शोक कुछ कम होने की आशा हुई। इस समय हमारे रिश्ते में, सहारनपुर जिले में एक मौत हो गयी। मैं वहाँ 'बैठने' गया। लौटते समय तारीख १२ जुलाई १९१० को, जब कि मैं रेल में मेरठ से दो स्टेशन ही दूर था, मुझे माता जी की याद आ गयी। याद बहुत जोर से आयी। ऐसा मालूम हुआ कि हृदय की धड़कन बहुत बढ़ गयी, और अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। जल्दी ही प्राण-पखेरू उड़ जाने वाले हैं। इसी समय कुछ तन्द्रा सी, आत्मविस्मृति-सी हुई। देखता हूँ, माता जी स्वच्छ-सफेद वस्त्र पहने खड़ी हैं। चेहरे पर तेज है, प्रेम की भावना स्पष्ट है। मैंने कुछ कहना चाहा, पर मानो मेरे मन का भाव समझ कर मुझे कुछ फटकारती हुई वे कहने लगीं: "तू वृथा शोक करता है कि माता की सेवा न कर सका। तेरी बड़ी माता, तेरी माँ की माता, भारत माता मौजूद है। तेरे मन में सेवा करने की है, तू इसकी सेवा कर। मैंने अपना अस्तित्व इस माता के विशाल स्वरूप में मिला दिया है। तू मेरे लिए इतना व्याकुल है, हृदय की आँखें खोल, अपनी माता को पहचान।"

विलक्षण प्रभाव—मैं कुछ सम्भल कर बैठा। माता जी कहाँ! वे नहीं हैं, पर उनका सन्देश हृदय में अंकित है। मानसिक स्वास्थ्य सुधरा, चिंता कम हुई, शरीर भी कुछ ठीक हुआ। कुछ मिनटों में क्या से क्या हो गया। रेलगाड़ी मेरठ स्टेशन आयी तब तक तो मेरी तबियत भली चङ्गी हो गयी। मुझे जीवन बूटी मिल गयी। माता जी के मरने के समय से अब तक मैं अपने आपको बेकाम समझता था। जीवन का कोई कार्य या उद्देश्य ही नहीं रह गया था। मैं मृत्यु की खोज करता था। इस घटना के बाद मुझे काम मिल गया। काम के लिए जीवित रहने की आवश्यकता अनुभव करने लगा। माता की सेवा करने का एक रास्ता मालूम हो गया। भारत माता की सेवा, माता जी की ही सेवा होगी।

माता जी का स्मारक; भारत-मंदिर की बात—१२ जुलाई १६१० की घटना का मेरे मन पर गहरा प्रभाव रहा। पीछे २१ अप्रेल १६११ को मैंने अपनी डायरी में लिखा था, "परमात्मा की कृपा से मैं आज से दस वर्ष के भीतर माताजी के स्मारक-स्वरूप 'श्री रामप्यारी आश्रम' की नींव रखी जाने की व्यवस्था करूँगा।" आश्रम की मेरी कल्पना यह थी कि खुले मैदान में भारत माता की बहुत ऊँची, भव्य, विशाल मूर्ति की स्थापना हो। उसके चारों ओर वाचनालय, पुस्तकालय, औषधालय, व्यायामशाला आदि हो। हरेक धर्म और जाति के आदमियों का वहाँ स्वागत हो। सब की आवश्यकताओं की वहाँ व्यवस्था हो। सब में वहाँ शुद्ध भक्ति की भावना बढ़े। सबमें लोकसेवा की इच्छा हो। मैं सोचता था कि मेरे द्वारा ऐसा एक मन्दिर बन जाने पर उस नमूने के मन्दिर स्थान-स्थान पर बनते रहेंगे। ऐसे मन्दिरों का प्रचार होने से साम्प्रदायिक भावनाओं का अन्त होगा, और राष्ट्रीयता के विकास में सहायता मिलेगी। इस मन्दिर के बनाने के लिए आर्थिक साधन नहीं जुटाये जा सके। आखिर सन् १६१५ में भारतीय ग्रन्थमाला की स्थापना हुई तो उसमें मैंने अपनी इस इच्छा की पूर्ति समझी। उसके बाद मन्दिर बन जाने की चिन्ता न रही।

'भारत'-मन्त्र—'भारत' शब्द ने मेरे हृदय में कैसा स्थान प्राप्त किया था, इसका कुछ अनुभव मुझे १६१६ में अपनी बीमारी के समय हुआ। मैं बम्बई में था। बुखार जोर का चढ़ा हुआ था। ऐसा मालूम होने लगा कि अब जीवन की अन्तिम घड़ी आ रही है। अंतिम समय में क्या करना चाहिए? मैं 'भारत'-'भारत' ही जपने लग गया। मैंने सोच लिया कि यही मन्त्र मेरा कल्याण करेगा, अगर इसी का उच्चारण करते करते प्राण विसर्जन हो जाए, तो क्या ही अच्छा हो। 'भारत'-'भारत' जपते हुए न-मालूम कब मेरी आंख लग गई। जब नींद हटी तो तबियत बहुत सुधरी हुई पाई।

'भारत',-नामकरण—'भारत' शब्द अकसर मेरे चिन्तन का विषय रहा है। एक बार (सन् १६३५) मैं सोचने लगा कि हमारे देश का नाम भारत कब और क्यों पड़ा। कुछ लोग इसे शकुन्तला के पुत्र भरत के नाम से प्रसिद्ध हुआ मानते हैं। कुछ का मत है कि श्री ऋषभ-देव के पुत्र जडभरत से इस भूमि का नाम भारतवर्ष पड़ा। कुछ का कहना है कि भरत नाम की जाति या नक्षत्र से इस देश का यह नाम पड़ा, और कुछ ने कहा है कि इस भूमि के लोगों में भरण-पोषण की क्षमता होने से ही यह नामकरण हुआ है। अस्तु, मैंने श्रीमद्भागवत, महाभारत और पुराणों में कहां कहां यह प्रसंग आया, उसकी खोज की, और इस विषय के सब सदर्भों का उल्लेख करते हुए एक लेख-माला लिखी जो 'योगी' के चार-पांच अंकों में प्रकाशित हुई थी। प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः यह मत सूचित किया गया है कि इस देश का भारत नाम श्री ऋषभदेव जी के पुत्र भरत के नाम से पड़ा, और शकुन्तला के पुत्र भरत के समय इसकी ख्याति हुई।

अस्तु, 'भारत' शब्द मेरे लिए एक भूमि के टुकड़े का ही नाम नहीं, यह एक प्रेरणादायक मन्त्र और मानवता का चित्र रहा है। इसकी दीक्षा मुझे मेरी माता जी ने दी थी, और वह भी अपने अभौतिक रूप द्वारा, स्वर्गवास के पश्चात्।

पाँचवाँ अध्याय

अँगरेजी से हिन्दी की ओर

अपने जीवन में पीछे की ओर मुड़कर भाग्य के स्फूर्तिदायक परिवर्तनों की झांकी देखने में एक विशेष प्रकार के आनन्द का संचार होता है। —लार्ड ईनमेन

अध्यापकीय कार्य प्रारम्भ—माता जी के संदेश ने मुझे मरते हुए को जीवन दिया, जीवन के लिए काम दिया। एक संकेत मिल गया था, ब्योरेवार बातें तय होनी बाकी थीं। अस्तु, अब घर पर (मेरठ) मन नहीं लगता था, वहाँ तो स्त्रियों के रोने-पीटने और रिश्तेदारों के आने-जाने से शोक को बनाये रखने का ही वातावरण था। मेरे बाहर जाने के लिए कोई निमित्त होना चाहिए था। जहाँ-तहाँ अध्यापकीय कार्य की खोज की; कोई अन्य कार्य करने की न योग्यता थी और न रुचि ही। पहले बरेली के मिशन स्कूल में ३५) माहवार की जगह मालूम हुई, उसे स्वीकार कर लिया गया। यहाँ अध्यापकों का व्यवहार अच्छा था। पर हेडमास्टर साहब लड़कों को पीटने के बहुत पक्ष में थे, उनकी यह बात मेरी प्रकृति के अनुकूल न थी। खैर, दो माह के भीतर ही, अक्तूबर १६१० में, भिवानी के म्युनिसपल स्कूल में गणित और विज्ञान के शिक्षक की ४०) माहवार की जगह पर चला गया।

अंगरेजी का शौक कम हुआ—यहाँ कुछ जम जाने पर मुझे लेख लिखने की सूझी। पर पुरानी आदत के अनुसार लिखा, अंगरेजी में ही। उसे भेजा 'इंडयन रिवियु', मदरास, में। इसमें केवल यह विचार था कि यह मासिक पत्र मेरे पास आता है। परन्तु यह नहीं सोचा कि

कोशिश करने लगी। सम्भव है, उसने स्कूल के हेडमास्टर से मेरे सम्बन्ध में कुछ कहा हो। हेडमास्टर साहब के भाव मुझे ४ अप्रेल १६११ को मालूम हुए। उस दिन अध्यापकों की सभा थी; डिप्टी-कमिश्नर के इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए विचार करना था कि स्कूलों में की उन्नति किस प्रकार हो सकती है। हेडमास्टर ने पत्र का उत्तर लिखवा कर अध्यापकों को सुना दिया। सब ने अपनी सहमति सूचित की। सिर्फ मैंने ही कुछ निवेदन किया। मेरा कहना था—'विद्यार्थी पाँचवीं कक्षा तक उर्दू पढ़ते हैं। छठी क्लास में आने पर उनके सामने यह पश्न उपस्थित होता है कि वैकल्पिक विषयों में से संस्कृत या फारसी ले। फारसी आसान रहती है। इसलिए बहुत से विद्यार्थी इच्छा होते हुए भी सस्कृत नहीं ले सकते, और जो लेते हैं, वे इसमें बहुत कमजोर रह जाते हैं। इस लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि पाँचवीं कक्षा तक उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी पढ़ाने का भी प्रबन्ध रहे, और कोई विद्यार्थी इन दोनों भाषाओं में से जिसे चाहे, उसे ले सके।'

हेडमास्टर साहब उर्दू-फारसी-प्रेमी थे और उन्हें अपनी बात के सामने किसी सहकारी अध्यापक की बात सुनना रुचिकर न था। फिर मैं तो उम्र में भी बहुत छोटा था। उन्होंने मेरी बात सुनकर कुछ नाराजी जाहिर की। मैंने कह दिया कि 'कोड' (शिक्षा-संहिता) में इसकी अनुमति है। अब तो वे अपने क्रोध को न छुपा सके। उन्होंने कहा —"ऐसी 'राजद्रोह की बातें नहीं करनी चाहिए।" मुझे ऐसे शब्दों की बिल्कुल आशा न थी। मैं चकित रह गया।

मेरा संकल्प—मेरा हिन्दी-प्रेम अब इतना बढ़ गया था कि उक्त विरोध और बाधाएँ उसे और भी बढ़ाने वाली सिद्ध हुईं। ऐसी कठिनाइयों को देखकर मुझे मालूम हुआ कि हिन्दी का कार्य भी कोई विशेष महत्व का कार्य है, यह भी देश-सेवा है। निदान, उसी दिन मैंने घर आकर अपनी डायरी में नोट किया—

"भगवन! तेरी कृपा हो! मैं चार साल के भीतर किसी हिन्दी

अंगरेजी मिडल स्कूल का हेडमास्टर बनूंगा, जहाँ पर मैं अपनी इच्छा-नुसार हिन्दी का कार्य कर सकूँगा।"

मेरी यह इच्छा इतनी जल्दी पूरी हुई कि मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। अगले ही सप्ताह मेरे एक पत्र के उत्तर में श्री दामोदरदास राठी, ब्यावर, ने मुझे मिलने के लिए बुलाया, और वेतन आदि की कुछ विशेष बातें करने से पूर्व ही मुझे पोकरण (जोधपुर) के अंगरेजी-हिन्दी स्कूल में हेडमास्टर नियुक्त कर दिया।

श्री दामोदरदास राठी—श्री राठी जी राजपूताने के एक सुप्रतिष्ठित सेठ, और कृष्ण मिल के (जो सूत कातती और कपड़ा बुनती थी) मालिक थे। मैंने इन्हें देखा तो शरीर से कुछ पतले-दुबले से मालूम होने पर भी उनके चेहरे पर तेज था, बातचीत में स्पष्टता और खरापन, चाल-ढाल में कुछ जल्दबाजी। सनातनधर्मी होते हुए भी ये आर्य समाज वालों को खासी आर्थिक सहायता देते थे। ये कहा करते थे कि कि ये ही सनातन धर्म वालों को जगाने का काम करते हैं। राठी जी ने कितने ही राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को, और देश-सेवा के लिए जेल जाने वाले परिवारों को बिना उनके मांगे यथेष्ट सहायता दी और सरकारी या गैर-सरकारी सार्वजनिक काम में चंदा दिया। सहायता देते समय इनकी दृष्टि उपयोगिता की ओर रहती थी, किसी पक्ष या सम्प्रदाय की ओर नहीं। यद्यपि सरकारी निगाह में ये 'अच्छे' आदमी न थे, पर वह जल्दी ही इनके खिलाफ कोई कार्रवाई भी करने की स्थिति में न थी। तो भी दो-एक बार इनकी तलाशी ली ही गयी। इनकी, क्रान्तिकारी आन्दोलन से सहानुभूति थी, पर उसमें इनका खास काम रुपये-पैसे से मदद करना था। सुप्रसिद्ध हिन्दी पत्रकार श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने कुछ समय इनकी मिल में काम किया था। श्री गिरिजाकुमार घोष भी कुछ समय इनके पास ब्यावर रहे थे। राठी जी अकसर देशभक्त विद्वानों और क्रान्तिकारी विचार वालों को अपने यहाँ किसी काम पर

रख लेते थे। ये 'माहेश्वरी शिक्षा-मंडल' के मंत्री थे* जिसका उद्देश्य राजपूताने में शिक्षा प्रचार करना था। मंडल को इन्होंने ग्यारह हजार रुपये दिए थे, और इनकी ओर से जोधपुर राज्य में कई स्कूल चलते थे, इनमें से मुख्य पोकरण (राठी जी का जन्म-स्थान) का था।

माहेश्वरी स्कूल में—२ जून से मैंने पोकरण के माहेश्वरी स्कूल में काम करना शुरू कर दिया। पहले माह का बिल बनाते समय अपना वेतन मैंने स्वयं निश्चित किया, ५५ रु० मासिक रखा; यह वेतन राठी जी को कम लगा, पर मुझे अधिक ही मालूम हुआ। पोकरण में नया वातावरण था। मेरे मन में काम करने का खूब उत्साह था। मेरे आने से अब जनता की तथा विद्यार्थियों की दृष्टि में स्कूल का दर्जा बढ़ गया था। क्रमशः विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी तथा वे पढ़ने में अधिक रुचि रखने लगे। स्कूल में प्रार्थना तथा वन्देमातरम् गान होता था। विद्यार्थियों को खासकर रायसाहब करोडीमल जी मालू की 'शीलाभरण' पुस्तक से समाज-सुधार सम्बन्धी कविताएं याद करायी गयीं। इन्हें, वे बहुधा गलियों और बाजरों में भी गाते रहते थे। विद्यार्थियों की सामयिक सभा होने लगी, जिससे उन्हें भाषण देने और लेख लिखने का अभ्यास हो। उनकी सफाई आदि की ओर भी ध्यान दिया गया। पढ़ाई तो अधिक नियमित रूप से होने ही लगी। इन सब बातों से सर्वसाधारण को माहेश्वरी स्कूल में नवजीवन संचार होने की सूचना मिली; साथ ही कुछ विघ्न-संतोषियों और प्रतिक्रियावादियों को भीतर ही भीतर अप्रसन्न होने का भी अवसर आया।

मेरा पहला लेख; तुकबन्दियाँ—भिवानी में मुझे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने का चाव हो गया था। यहाँ स्कूल में हिन्दी की कुछ पत्र-पत्रिकाएँ आती थीं, कुछ और मंगायी जाने लगीं। पुस्तकों की भी वृद्धि

---

*पीछे यह मंडल मारवाडी शिक्षा मंडल में मिल गया। उसके, राठी जी संयुक्त मंत्री रहे।

की गयी। नये-नये विचार मन में आ रहे थे। इस साहित्यावलोकन से उसमें और उत्तेजना मिली। कभी कभी सायंकाल के समय खुले मैदान में घूमने जाता या मकान की छत पर बैठता तो कुछ तुकबन्दियाँ करने लगता।

जुलाई में मैंने माहेश्वरी स्कूल के पुस्तकालय के लिए राधामोहन गोकुल जी का 'सत्य सनातन धर्म' पत्र मंगाना शुरू किया और उनके यहाँ से कुछ पुस्तकें भी मंगायीं, जिनमें से एक थी 'गद्य माला'। इसके एक लेख में बताया गया था कि लेखक ने एक कविता की एक पंखड़ी के आधार पर कविता लिखने का उद्योग किया था। उन दिनों मैं भी पदों को जोड़ने का अभ्यास कर रहा था। पर यह सोचकर मन में हिचक होती थी कि कवि तो जन्म से अर्थात् कुदरती ही होते हैं, बनाये नहीं बनते। 'गद्यमाला' के उपर्युक्त लेख को देख कर मेरी हिचक निकल गयी, दिल में कविता करने को उमंग उठी। मैंने एक कविता का यह पद्य लिया :—'बिन आपके प्रभु जी कोई नहीं हमारा' और कुछ तुकें जोड़ीं; उन्हें श्री गोबर्द्धन शर्मा छांगाणी (जो मुझसे पहले माहेश्वरी स्कूल के मुख्य अध्यापक थे) से संशोधित कराया। लेख 'सत्य सनातन धर्म' में छपने को भेज दिया। उसके आरम्भ में (गद्य में) अपनी रचना के सम्बन्ध में कुछ कह कर 'कविता' दी गयी थी, जिसकी पहली पंक्ति यह थी—

'बिन आप हे दयामय अब कौन है हमारा'

मुझे इस लेख को छपाने की इच्छा खासकर इसलिए थी कि इसमें मेरी पद्य रचना थी, जिसका मेरी निगाह में बड़ा महत्व था। लेख का शीर्षक याद नहीं, वह मेरी डायरी में दिया हुआ नहीं है। सम्पादक जी ने इसे कुछ संशोधित रूप में प्रकाशित किया।

अन्य तुकबन्दियाँ—पहला लेख छप जाने पर मुझे बहुत खुशी हुई। कुछ दिन बाद मैंने उसी पत्र में दूसरी कविता भेजी—

'हमारे काम पूरे हों'

इसमें सम्पादक जी की कलम बहुत कम चली। इससे उत्साहित होकर मैंने दो कविताएँ और भेजीं। कविताएँ क्या थी, अपना मनो-विनोद था। साधारण पाठकों की दृष्टि में चाहे वे निरे उपहास की वस्तु हों, पर मेरे लिए तो उनमें यथेष्ट भाव था। अस्तु, मैंने एक 'कविता' इसलिए लिखी कि उसे किसी अच्छे योग्य कवि द्वारा ठीक करा कर स्कूल में प्रचलित किया जाए, और विद्यार्थियों को उससे स्फूर्ति और प्रेरणा मिले। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये थीं—

माहेश्वरी स्कूल के लड़के हम हैं।
पोकन देश के वासी हम हैं॥
कष्ट हम सब सहन करेंगे।
परीक्षा भी उत्तम पास करेंगे॥
आज्ञा-पालन भी करेंगे ऐसा।
रामचन्द्र निभा गये जैसा॥
सिद्धान्त हम यह खूब गहेंगे।
दुःखों के बिन सुख न मिलेंगे॥
आपस में प्रीति से रहेंगे ऐसे।
कृष्ण सुदामा रहे थे जैसे॥
हिला के आसमां हमी रहेंगे।
जगा के भारत हमी रहेंगे॥

उन दिनों मैं अपने नाम के साथ 'विद्यार्थी' शब्द जोड़ता था और अंगरेजी के ढंग पर 'वी० के० विद्यार्थी लिखा करता था; कविता में 'छात्र' लिखा जाता था।

कवि-जीवन का अन्त—मैंने एक कविता 'सत्य सनातन धर्म' को प्रकाशनार्थ भेजी। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियां ये थीं—

उपजा है जो मन में, कहे बिन न रहेंगे,
उपासक स्वतंत्रता के, क्यों हम न बनेंगे!

इस कविता की नकल मैंने राठी जी के पास भेज दी थी। उनका मुझसे बड़ा स्नेह था। मैं भी उन्हें बहुत मानता था। उन्होंने अपने पत्र में मेरे इस कार्य से अरुचि प्रकट की। सम्भव है, कुछ पंक्तियाँ उन्हें आपत्तिजनक प्रतीत हुई हों। अस्तु, उनका पत्र मिलने के बाद तो मेरी भी यह इच्छा हो गयी कि यह कविता न छपे। बस, मैंने एक तार कलकत्ता, सम्पादक जी को, देकर उसका छपना रुकवा दिया। इसके बाद और कोई खास कविता करने की याद नहीं है। यहीं मेरे अल्प कवि-जीवन का अन्त हुआ समझिए। यद्यपि इसकी समाप्ति का प्रत्यक्ष और स्थूल कारण राठी जी का पत्र कहा जा सकता है, इसमें और भी कई बातें सहायक हुईं। वातावरण की नवीनता जाती रही थी, कार्यभार बढ़ता जा रहा था, अन्दर से स्फुर्त्ति कम हो रही थी, प्रोत्साहन का अभाव था, और अनुकूल संग-साथ आदि भी नहीं था। अब तो पाठकों को यह बात ही अद्भुत् प्रतीत होगी कि जो व्यक्ति राजनीति और अर्थशास्त्र की कृतियां लेकर सर्वसाधारण के सामने आया है, वह कभी कविता का व्यसनी रहा होगा।

अस्तु, कविता का इतना शौक तो पीछे भी रहा कि पत्र-पत्रिकाओं में सरल, भावपूर्ण विशेषतया राष्ट्रीय कविताओं को न केवल पढ़ता रहा, वरन् उनको पत्रों में से काट कर अपनी नोटबुक मे चिपकाता अथवा उनकी नकल करके रखता रहा।

पत्रों में लेख—कविता करना बन्द हुआ, पर इस बीच में लेख लिखने का दूसरा क्रम जारी हो गया। अलीगढ़ से 'माहेश्वरी' मासिक पत्र प्रकाशित होने लगा। इसके प्रकाशक श्री० भागीरथदास भूतड़ा मेरे रिश्ते में भाई होते थे। उनका आग्रह होने से मैं क्रमशः उस पत्र

के लिए लिखने लग गया। फिर तो धीरे-धीरे अन्य पत्रों से भी सम्बन्ध होता गया।

आगे पढ़ने की इच्छा; स्वामी राम के वाक्यों का प्रभाव— पोकरण में मेरी हिन्दी-प्रचार की वह इच्छा पूरी होती रही, जो भिवानी में जागृत हुई थी। यहाँ मैंने हिन्दी की पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ मंगा कर अध्यापकों तथा बड़े विद्यार्थियों को उनके पढ़ने के लिए भरसक प्रोत्साहित किया। प्रधान अध्यापक होने के नाते ऐसा करना मेरा कर्तव्य ही था, पर इसमें मेरी इच्छा भी मिल जाने से इसमें खूब आनन्द आया। आरम्भ में कुछ समय तक मेरी आकांक्षा स्कूल की उन्नति तक ही सीमित थी—स्कूल में विद्यार्थी बढ़ें, वे अधिकाधिक योग्य हों, आगे की कक्षाएँ खुलती जाएँ, इत्यादि। अपने लिए मैं स्कूल से जुदा कोई बात नहीं सोचता था—आगे पढ़ने, परीक्षा देने और डिग्री प्राप्त करने का विचार मैंने अपने मन से हटा दिया था। पर पीछे इसमें परिवर्तन हो गया। यह खासकर स्वामी रामतीर्थ के लेखों का प्रभाव था कि मुझे आगे पढ़ने की प्रेरणा हुई। इस प्रसंग में उनके नीचे लिखे वाक्य उल्लेखनीय हैं :—

१—'जो लोग अपना ऋण अपने आप को पूरी तरह अदा करते हैं, उनके तीनों ऋण (परमेश्वर की तरफ, मनुष्य मात्र की तरफ, मातृ-भूमि की तरफ) खुद ब-खुद अदा हो जाते हैं। जो ऐसा करते हुए अपने तईं रूहानी या अकली बचपन की हालत से आगे बढ़ा देते हैं—मसलन, कुछ नहीं तो एम० ए० या शास्त्री की सी लियाकत पैदा करते हैं—वे जिस हद तक रूहानी या अकली जोर पैदा कर चुके हैं, उसी अंदाज से, कौम को तरक्की की सड़क पर आगे खींच सकते हैं।'

२—'मैदान में खड़े होकर निगाह फैलाएँ तो थोड़ी दूर तक देख सकते हैं, और चन्द आदमियों को अपनी आवाज पहुँचा

सकते हैं, परन्तु ऊँचे मीनार या पहाड़ की चोटी से चारों तरफ बहुत दूर तक आवाज सुना सकते हैं।

देश-यात्रा; शिक्षा-केन्द्र देखना—लगभग दस माह स्कूल में काम करके मैंने इसे छोड़कर बी० ए० की पढ़ाई करना चाहा। पर राठीजी मुझे छोड़ने के लिए राजी न हुए। आखिर, मैंने खासकर शिक्षा-केन्द्रों को देखने के लिए दो माह की छुट्टी ली और १६ मार्च को ब्यावर से यात्रा पर निकल पड़ा। इस यात्रा में मैंने वर्धा का मारवाड़ी हाई स्कूल, बड़ौदा का कन्या विद्यालय, बीकानेर का मोहता मूलचन्द विद्यालय, जालंधर का कन्या महाविद्यालय, लाहौर का डी० ए० वी० कालिज, मिशन कालिज, दयालसिंह कालिज, और गवर्मेंट कालिज, हरिद्वार का ऋषीकुल और गुरुकुल देखा। कलकत्ते में अमृतलाल जी चक्रवर्ती ने मुझे श्री विशुद्धानन्द विद्यालय, प्रेसीडेन्सी कालिज, हैरिस स्कूल, रिपन कालिज संस्कृत कालिज और नेशनल कालिज तथा अन्य संस्थाएँ दिखायीं। यहाँ मैं कई पत्र-सम्पादकों से भी मिला। इस यात्रा में, वर्धा में श्रद्धेय जाजू जी से, और लाहौर में लाला हंसराज जी से मिलने का अवसर आया। उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त, मैंने इसी यात्रा में बम्बई, कानपुर, लखनऊ अलीगढ़, आदि विविध नगरों को प्रथम बार ही देखा। प्रायः सब स्थानों में कुछ-कुछ सज्जनों से वार्तालाप का अच्छा प्रसंग आया।

विदेश-यात्रा होते-होते रह गयी—पिछले दिनों स्वामी सत्यदेव की अमरीका-यात्रा सम्बन्धी पुस्तकें देखने में आयी थीं। उनकी लेखन-शैली आकर्षक और प्रभावशाली थी। उनके लेखों को पढ़ कर मेरे मन में विदेश-यात्रा करने की आवश्यकता और उपयोगिता जच गई। ता० १ जनवरी १६१२ को मैंने अपनी डायरी में लिखा था :—

'परमात्मा शिक्षा-कार्य में मेरा मन लगाये रखे। मैं सन् १६१४ में बी० ए० पास करने और इस प्रकार अपने आप को उच्च शिक्षा के

लिए तैयार करने की आशा करता हूँ । परमात्मा की इच्छा हुई तो राष्ट्रीय शिक्षा में अधिक दीक्षित हूँगा और मातृ-भूमि के लाभार्थ पाश्चात्य जीवन देखूंगा ।'

ऐसा मालूम हुआ कि मेरी विदेश-यात्रा की बात पूरी होने का समय आ गया । अब मेरे पास अपनी कमाई के लगभग छः सौ रुपये सेविंग बैंक की पास बुक में जमा थे । बस, मैं कलकत्ता से अपने काम पर ब्यावर न लौटकर सीधा इंगलैण्ड या अमरीका जाने की सोचने लगा । इस विचार से मैंने एक पत्र भाई गिरधारी लाल जी के नाम लिखा, जिसमें मैंने इस बात के लिए क्षमा चाही कि मैं उनकी कुछ सेवा नहीं कर सका। इस पत्र को डाक में डाल कर यात्रा की तैयारी का काम करना था, इसलिए लेटर-बक्स की ओर चला । रास्ते में यह विचार होगया कि पत्र को कुछ समय पीछे डाक में डाल दिया जाए । पर इस बीच में मन दूसरी ओर चला गया । फिर पत्र को डाक में डालने का और फल-स्वरूप विदेश-यात्रा का प्रसंग ही न आया । जीवन में कई बार ऐसा हो जाता है कि काम या तो उसी समय हो जाए या फिर कभी भी न हो । अस्तु, पत्र डालने की बात क्या स्थगित हुई, विदेश यात्रा होते-होते रह गयी ।

देश-यात्रा से वापसी, प्रतिकूल परिस्थिति—इस यात्रा से मैं मई के अन्त में लौटा । उस समय अस्वस्थ था; ब्यावर पहुँचने पर तो बहुत ही बीमार हो गया । राठी जी ने मेरा बहुत आत्मीयता, समवेदना और सहानुभूति से इलाज कराया । कुछ ठीक होने पर मैं पोकरण आ गया । यह बात मेरे सहकारी अध्यापक चोबेजी को बहुत अरुचिकर प्रतीत हुई । वे मेरी अनुपस्थिति में प्रधान अध्यापक थे; और अब उसी पद पर बने रहना चाहते थे । उन्होंने स्थानीय लोकमत मेरे विरुद्ध कर दिया और मेरे लिए बहुत कठिनाइयाँ उपस्थित करदीं, यहाँ तक कि डाकखाने वालों से मिल कर मेरे पत्र आने जाने में भी बाधा खड़ी कर दी । अन्ततः मेरा पत्र पाकर राठी जी ने उन्हें अपने पास बुला भेजा । उनके

पोकरण से चले आने के कुछ समय पश्चात् स्कूल का कार्य नियमित रूप से होने लगा।

अक्तूबर के अन्त में, नागपुर में माहेश्वरी महासभा का दूसरा अधिवेशन हुआ। मैं भी उस में सम्मलित होने के लिए गया, और वहां कई एक सामाजिक कार्य करने वालों से भेंट हुई।

माहेश्वरी स्कूल बन्द—पोकरण ठिकाने के अधिकारी स्वेच्छाचारी और पिछड़े विचारों के थे। वे स्वयं तो अपने यहाँ शिक्षा का प्रबन्ध करते ही न थे; उन्हें राठी जी द्वारा स्कूल चलाया जाना भी पसन्द न था। उन्हें राठी जी के प्रति इसलिए भी क्षोभ था कि ये (राठी जी) यहां के आदमियों को अपने अधिकारों के लिए आन्दोलन करने की प्रेरणा देते थे। आखिर, स्कूल पर क्रोध उतरा। सुना गया कि दिसम्बर '१९१२ में पोकरण ठिकाने ने जोधपुर दरबार के सम्मुख इस स्कूल पर यह अभियोग लगाया कि यहां विद्यार्थियों को 'बन्देमातरम्' कहना सिखाया जाता है; ऐसे स्कूल का यहाँ होना अभीष्ट नहीं है। अस्तु, स्कूल सरकारी आज्ञा से बन्द करा दिया गया, और एक साधारण सरकारी पाठशाला स्थापित की गयी। कुछ समय तक पोकरण रहना उचित समझ कर मैं उस पाठशाला के मुख्याध्यापक का काम करता रहा।

विशेष वक्तव्य—पोकरण में राठी जी के कई रिश्तेदार आदि थे, कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे, जिनके कोई रिश्तेदार या मित्र राठी जी की ब्यावर मिल में काम करते थे, अथवा जो किसी प्रकार राठी जी द्वारा उपकृत थे। इन सबसे समय-समय पर मुझे यह मालूम होता रहता था कि राठी जी के विचार कैसे हैं, अथवा इन लोगों का उनके बारे में क्या मत है। एक बार राठी जी कुछ समय के लिए पोकरण आये; बड़े स्नेह और आदर से मिले, खुलकर बातचीत हुई; स्कूल में सभा हुई जिसमें उनके अतिरिक्त बस्ती के अन्य प्रतिष्ठित सज्जन भी पधारे।

पोकरण रहते हुए राधामोहन गोकुल जी से जो पत्र-व्यवहार हुआ

उसका जिक्र पहले किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त जिन अन्य सज्जनों से पत्रों द्वारा परिचय हुआ, उनमें से कुछ उल्लेखनीय ये हैं:—श्री श्रीकृष्णदास जाजू, संयुक्त मंत्री, माहेश्वरी मंडल, वर्धा; रायसाहब करोडीमल जी मालू, सभापति, माहेश्वरी मंडल, नीमच; शिवनारायण सिंह, सम्पादक 'मारवाड़ी', नागपुर।

राठी जी से इतनी घनिष्ठता हो गयी थी कि मैं उनकी इच्छा के विरुद्ध पोकरण छोड़ने के साहस नहीं कर सकता था। इस प्रकार यह कल्पना करते नहीं बनती थी कि मेरी आगे पढ़ने को इच्छा कब पूरी होगी। पर माहेश्वरी स्कूल बन्द होने से वह समय अकल्पित ढंग से आ गया। फरवरी में मैंने राज्य को पाठशाला से एवं पोकरण से विदा ली। यहाँ से जो संस्कार मैं ले चला, उनमें एक मुख्य बात यह थी कि जीवन में अब अंगरेजी की जगह हिन्दी की ओर झुकाव हो गया था।

—·—

छठा अध्याय

साहित्यिक जीवन में प्रवेश

साहित्य सेवा या हिन्दी-सेवा लाक्षणिक प्रयोग हैं। इनका अर्थ कोटि-कोटि जनता की सेवा है, जो इस भाषा को बोलती और समझती है। हमने साहित्य का साधन अपनाया है। परन्तु लक्ष्य हमारी यही जनता है। इसी को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना साहित्य-सेवा का असली अर्थ है। —हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दू विश्वविद्यालय—बी० ए० की पढ़ाई के लिए मैं ने पहले बनारस चुना था। बात यह थी कि इधर कुछ समय से हिन्दू विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में खूब प्रचार हो रहा था। महामना मालवीय जी इसकी स्थापना के लिए आश्चर्यजनक लगन से जुट रहे थे। खूब अपीलें निकलती थीं। विश्वविद्यालय से कणाद और गौतम निकलने और प्राचीन भारतीय संस्कृति का उद्धार होने की बात कही गयी थी; वह कितनी आकर्षक थी! परन्तु इस विश्वविद्यालय के संचालक इसे विशाल स्वरूप देने के चक्कर में रहे। इसके लिए बहुत-बड़ी धन राशि की आवश्यकता थी। राजा महाराजा, जागीरदार तालुकेदार और धनी वर्ग ऐसी ही संस्था के लिए कुछ जी खोल कर सहायता दे सकता था जो सरकार की निगाह में ठीक जचे। इसलिए विश्वविद्यालय की कार्यपद्धति आदि को सरकार द्वारा मान्य कराना आवश्यक था, और अंगरेज सरकार। कणाद और गौतम जैसे स्नातक निकालने वाली संस्था की स्वीकृति देने वाली न थी। इस का परिणाम जो होना था, वह सबके सामने है। यह विश्वविद्यालय

अपनी कुछ विशेषता रखते हुए भी और खूब आलीशान होते हुए भी आखिर अन्य विश्वविद्यालयों के ढांचे का ही रहा। अस्तु, मैं बनारस दो माह रहा। मैं इस संस्था के उद्घाटन-समारोह में सम्मिलित हुआ था, जब कि महात्मा गांधी के ऐतिहासिक मर्मस्पर्शी भाषण ने सरकारी क्षेत्र में तथा नरम दल के भारतीय नेताओं के हृदय में खलबली मचा दी थी, और श्रोताओं का ध्यान देश की घोर दरिद्रता और उसके साथ शासकों तथा राजा महाराजाओं आदि की बिलासिता तथा शौकीनी की ओर आकर्षित किया था।

बी० ए० की पढ़ाई, नागपुर में—मई १६१३ में माहेश्वरी महासभा की प्रबन्ध-समिति की मीटिंग (धामनगाव) में उपस्थित होने के लिए मैं जाजू जी के पास वर्धा आया, पीछे उनके परामर्श से इधर ही पढ़ने का निश्चय कर लिया। मैं नागपुर के मारिस कालिज में, जिसे अब नागपुर महाविद्यालय कहते हैं, दाखिल हो गया। रहने की व्यवस्था मारवाड़ी विद्यार्थी-गृह में की गयी जिसका प्रबन्ध मारवाड़ी शिक्षा मंडल के मन्त्री, श्रद्धेय जाजू जी की ओर से मेरे ही सुपुर्द था। नागपुर रहते हुए मेरा समय-समय पर वर्धा जाना होता रहा। श्री जाजू जी भी कभी-कभी नागपुर आते रहते थे। इस प्रकार मेरा उनसे सम्पर्क बढ़ता गया। उस समय जाजू जी अखिल भारतीय ख्याति वाले तो नहीं थे, तथापि अपने त्याग, सेवा-भाव और उच्च आदर्शों के कारण मारवाड़ी एवं महाराष्ट्र समाज में बहुत मान्य और श्रद्धास्पद थे।

बी० ए० की पढ़ाई करने में मेरा एक मुख्य उद्देश्य राजनीति और अर्थशास्त्र अध्ययन करने का था। विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में राजनीति कोई स्वतन्त्र विषय न था, इतिहास में ही उसका समावेश होता था। इसलिए मैंने इतिहास और अर्थशास्त्र का विषय लिया था। पर इनकी गहराई में जाने या इनके सूक्ष्म अध्ययन की मेरी रुचि न थी। विद्यार्थी-गृह में सेठ जमुनालाल जी बजाज की सहायता से हिन्दी के कई पत्र-पत्रिकाएँ आने लगी थीं। कुछ विद्यार्थी अपनी तरफ से

अखबार मंगाने लगे थे। मुझे इन्हें पढ़ने का शौक था ही, अकसर इस में तथा यहाँ होने वाली डिबेटिंग क्लब में भाग लेने में मेरा बहुत सा समय निकलने लगा। फिर, 'माहेश्वरी' में फुटकर लेख देने के अतिरिक्त मैंने 'हमारे पाठ्य विषय' शीर्षक लेख माला शुरू करदी थी। इसमें भी खासा समय लगना स्वाभाविक था। इस प्रकार कालिज कीं पढ़ाई की कुछ उपेक्षा ही रही।

हिन्दी-मारवाड़ी-विवाद—मैंने अपने साथी मारवाड़ी मित्रों की हिन्दी की ओर रुचि बढ़ाने का प्रयत्न किया। वे मुझे बहुत मानने लगे। पर पीछे कुछ प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। कुछ साथी कहने लगे कि "यद्यपि हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है, और इस नाते उसका प्रचार और सेवा आदि अभीष्ठ हैं। परन्तु मारवाड़ियों की मातृभाषा मारवाड़ी है, अतः उन्हें चाहिए कि उसकी साहित्य-वृद्धि आदि में कटिबद्ध रहें। मातृभाषा (मारवाड़ी) की अवहेलना करके 'नानी-भाषा' (हिंन्दी) में शक्ति लगाना ठीक नहीं।" इस दृष्टिकोण से उन बन्धुओं को मेरा हिन्दी में लेख लिखना आपत्तिजनक प्रतीत हुआ। मेरा कथन यह था कि मारवाड़ी हिन्दी की एक बोली या उप-भाषा ('डायलेक्ट') है, स्वतन्त्र भाषा नहीं, अतः इसके प्राचीन साहित्य की रक्षा तो की जाय, पर इसमें नवीन साहित्य उत्पन्न करना समय और शक्ति का दुरुपयोग करना है। अस्तु, यह हिन्दी-मारवाड़ी विवाद खूब बढ़ा, 'माहेश्वरी' और 'मारवाड़ी' में कितने ही लेख निकले। अन्य सार्वजनिक पत्रों-भारतमित्र, अभ्युदय और वीरभारत को भी लेख भेजे गये। मारवाड़ी समाज के नेताओं के सामने प्रश्न लाया गया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन और नागरी प्रचारणी सभा काशी से लिखा-पढ़ी करने की बात भी मेरी डायरी से ज्ञात होती है। क्योंकि एक पक्ष का प्रमुख व्यक्ति मैं था, स्वभावतः मेरी बहुत सी शक्ति और समय इस विवाद में लगा; कुछ मानसिक अशान्ति भी रही। विवाद का कोई ऐसा निपटारा न हुआ, जो दोनों पक्ष को मान्य हो। कुछ दिन बाद

दोनों ही पक्ष अपने समय की हानि का विचार करके क्रमशः ठण्डे पड़ गये और विवाद का अन्त हो गया।

पहली पुस्तक, भारतीय शासन का विचार—क्रमशः मेरे मन में यह विचार आया कि हिन्दी का पक्ष समर्थन करने के लिए जबानी जमा-खर्च में क्या रखा है, कुछ क्रियात्मक कार्य होना आवश्यक है। मुझे ऐसे विषय की पुस्तक लिखनी चाहिए, जिसकी अब तक न हो, जो पाठकों के लिए नया हो।

बी० ए० में मैंने इतिहास (राजनीति) और अर्थशास्त्र का विषय लिया था। हिन्दी में पुस्तक लिखने की बात सामने आयी तो स्वभावतः ध्यान इन्हीं विषयों की ओर गया। वैसे भी मैं सोचता था कि देश को दो रोग भयंकर रूप से सता रहे हैं—पराधीनता और दरिद्रता। अस्तु, मेरी इच्छा हुई कि राजनीति सम्बन्धी पुस्तक लिखी जाय। भारतीय शासनपद्धति का विषय हमारे पाठ्यक्रम में था। आखिर, इसी पर लिखने का निश्चय लिया। विविध स्थानों में पत्र व्यवहार करके मालूम किया कि इस विषय पर हिन्दी उस समय तक कोई पुस्तक नहीं छपी। निश्चय किया गया कि परीक्षा तक तो इस विषय का केवल अध्ययन ही हो; लिखने का कार्य पीछे आरम्भ किया जाए।

श्री ब्रजमोहनलाल वर्मा का परामर्श—१० अप्रेल १६१५ को मेरी बी० ए० की परीक्षा समाप्त हुई। आगे का प्रोग्राम बना-बनाया था। भारतीय शासन का काम करना था। छिन्दवाड़ा मित्रवर ब्रजमोहन-लाल वर्मा के पास गया, इस पुस्तक की रूपरेखा के विषय में उनसे विचार किया। वहां ही कुछ परिच्छेदों का मसविदा बना लिया गया। पुस्तक पाठ्य पुस्तक बने, इस दृष्टि से वर्मा जी ने इसके लिए एक लेख लिखा—'अंगरेजी राज से लाभ।' लेख अच्छा था, पर था एकांगी। मैंने कहा कि पुस्तक में सम्मिलित किया जाय तो विषय होना चाहिए—'अंगरेजी राज से लाभ-हानि।' इससे वर्मा जी का उद्देश्य पूरे होने की आशा नहीं थी। मैंने थोड़ी दृढ़ता दिखायी, कह दिया कि पुस्तक

पाठ्य पुस्तक हो, इसकी चिन्ता न की जाए। अस्तु, वर्मा जी ने अपना लेख मुझे देकर यह मुझ पर ही छोड़ दिया कि उसमें चाहे जैसा परिवर्तन करूँ अथवा उसका उपयोग ही न करूँ। मैंने उसे 'भारतवर्ष में नवयुग' शीर्षक से अपने विचारानुरूप कर डाला। इसी प्रकार पीछे जब कुछ मित्रों ने यह सम्मत्ति दी कि पुस्तक में टीका टिप्पणी न की जाए, या शासन सुधारों की आवश्यकता न बतायी जाए, तब भी मैं उन शुभचिन्तकों की बात मानने में असमर्थ रहा। मैंने विविध विषयों की आलोचना करते हुए जगह-जगह कांग्रेस का मत सूचित किया।

सामग्री संग्रह; विविध सज्जनों से विचार-विनिमय—मैं छिंदवाड़े से बनारस और इलाहाबाद आया। इन स्थानों में पुस्तक के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री लेनी थी। कई सम्पादकों और प्रकाशकों से प्रथम बार ही मिलना हुआ। मैं उस समय हिन्दी-संसार में नितान्त अपरिचित था। इलाहाबाद में मैं स्टेशन के पास की धर्मशाला में ठहरा था। दिन में विविध सज्जनों से मिलता और विचार-विनिमय करता, रात को धर्मशाला में आकर विविध बातें नोट करता था। दवात कलम और मोमबत्ती साथ में रख रहा था। इस प्रकार काम करने में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव करता था। अन्यान्य संस्थाओं में यहाँ भारती भवन, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और अभ्युदय प्रेस की कुछ पुस्तकें देखीं, और श्री रामजीलाल शर्मा और राधामोहन गोकुल जी से मिला। बनारस में नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में कुछ पुस्तकें देखीं। रामनगर में मैं श्री बी० वी० सेन राय से मिला, ये बहुत हिन्दी-प्रेमी थे, और पहले बहुत क्षति उठा कर भी मेरठ से 'बाल-हितैषी' पत्र निकालाते थे, जो बालोपयोगी पत्रों में एक अग्रगामी पत्र था। अस्तु, वहाँ से अलीगढ़ होते हुए मैं मेरठ आया। यहाँ पंडित उमरावसिंह जी से अच्छा विचार-विमर्श हुआ। मुझे अब यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि पूरी पुस्तक एक बार किसी कानून-ज्ञाता को दिखाली जाय। मेरी पहुँच का

क्षेत्र बहुत परिमित था। अस्तु, श्री मुखत्यारसिंह वकील, मेरठ, ने उक्त कार्य का कष्ट उठाया, मुझे कई उपयोगी परामर्श दिये और उसकी भूमिका लिखने की भी कृपा की। इस प्रकार मेरी प्रथम पुस्तक की रचना का कार्य पूरा हुआ।

ब्यावर में; राठी जी के पास—मैं बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण न हुआ। पर उसका मुझे कुछ अफसोस भी नहीं हुआ। मेरा मुख्य उद्देश्य केवल राजनीति और अर्थशास्त्र का अध्ययन करना था; वह हो ही गया था। परीक्षा-परिणाम प्रगट हो जाने के उपरान्त राठी जी ने मुझे तार द्वारा ब्यावर बुला भेजा। उन्होंने मुझे वहां के सनातन धर्म स्कूल का हैडमास्टर नियत करा दिया, और स्कूल कमेटी को यह सूचित कर दिया कि केला जी कुछ समय में स्कूल की व्यवस्था ठीक करके अपनी जगह के लिए किसी अन्य योग्य व्यक्ति की खोज कर देंगे; और ये स्वयं व्यवसाय कार्य में प्रवेश करेंगे। राठी जी की इच्छा अन्ततः मुझे अपनी 'कृष्णा मिल्स' के काम में लगाकर अपने पास रखने की थी। उनका मुझसे बहुत ही स्नेह था। १६ जुलाई १९१५ से मैं स्कूल में काम करने लगा। राठी जी ने मेरे लिए मिल का काम देखने की व्यवस्था कर दी।

पुस्तक छपाने की बात—मेरी 'भारतीय शासन' पुस्तक लिखी जाकर तैयार थी। इसके प्रकाशन की समस्या थी। इसकी सामग्री जुटाने के लिए मैं जिन-जिन स्थानों में गया था, वहाँ के प्रकाशकों में से कोई इसे छपाने को तैयार न था। और, मैं तो इस मद में पाँच रुपये भी नहीं लगा सकता था। हाँ, छपाने की इच्छा इतनी प्रबल थी कि यदि मेरे पास रुपया होता तो इसे अवश्य छपा डालता, चाहे वह रकम पीछे कुछ भी वसूल न होती। राठी जी से इस पुस्तक की बात निकली तो मेरी आकुलता देखकर उन्होंने इसे छपाने के लिए श्री गिरिजाकुमार घोष के पास प्रयाग भेज दिया। छपाई का खर्च राठी

जी ने दिया, प्रूफ आदि देखने का कष्ट श्री घोष ने उठाया और प्रकाशक हो गया मैं।

ग्रंथमाला की स्थापना—'भारतीय शासन' छपने के समय तक दो पुस्तकों की सामग्री तैयार हो गयी थीं। भारतीय शासन में उनकी सूचना देते समय मेरे मन में ग्रंथमाला का विचार आ गया। उसके नाम के लिए कई शब्द सामने आये। मैंने उसमें 'भारतीय' का समावेश आवश्यक समझा, जिससे लोगों की जबान पर मेरे इस प्यारे शब्द के आने का प्रसंग अधिक उपस्थित हो। 'भारतीय' शब्द मुझे अपनी माता जी की याद दिलानेवाला था। इस प्रकार ग्रंथमाला का नाम 'भारतीय ग्रंथमाला' रखा गया। अस्तु, मैं सन् १९१५ में पुस्तक-लेखक के साथ प्रकाशक भी बन गया।

क्या लेखक को प्रकाशक होना चाहिए ?—यह स्पष्ट है कि मुझे प्रकाशक परिस्थिति वश ही बनना पड़ा। यदि कोई सज्जन मेरी पहली पुस्तक छपा देते तो मैं उस समय प्रकाशक न बनता। पीछे भी समय-समय पर मैंने चाहा और प्रयत्न किया कि मेरी पुस्तक का कोई प्रकाशक मिल जाए। कभी कभी कोई सज्जन ऐसे मिले भी जिन्होंने मेरी पुस्तक पाठ्य न होते हुए भी छपाई। परन्तु प्रायः जिन आशाओं से पुस्तक उन्हें दी गयी, वे पूरी न हुईं; किसी-न-किसी प्रकार की शिकायतें रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि अपनी थोड़ी-सी शक्ति को भी मैं पूर्ण रूप से लेखन-कार्य में नहीं लगा सका; प्रकाशन की चिंता और व्यवस्था में काफी शक्ति लगती रही। फिर भी काम ऐसा नहीं बना जो बाजार के लायक हो। बिक्री का ठीक आयोजन नहीं हुआ। विज्ञापन का साधन नहीं रहा। कई एक संपादक-मित्रों की सहानुभूति से ही प्रचार में कुछ सहायता मिली।

अस्तु, जिन लेखकों का विषय सर्व-साधारण की रुचि के अनुकूल है और जिन्हें प्रकाशक यथेष्ट आदर और पुरस्कार प्रदान करते हैं,

उनका, प्रकाशन-भार से मुक्त रहना ही ठीक है। परन्तु जिनका विषय जनता में यथेष्ट रुचिकर नहीं, जिनकी रचनाओं के प्रकाशन को प्रकाशक लाभप्रद न समझकर बहुधा अनादृत कर देते हैं, जिनको सहायता देने वाले धनी पुरुष, राज्य या अन्य साहित्य संस्थाएँ भी देश में न हों, वे अपनी रचनाओं को यदि स्वय भी छपाने की व्यवस्था न करें तो फिर उनके प्रकाश में आने की सम्भावना ही कैसे हो ? निस्सन्देह लेखक अपनी पुस्तक को स्वयं छपाने में बड़ी जोखम उठाता है। जनता को ज्ञान-धन देने के लिए वह स्वयं निर्धनता के संकट में पड़ जाता है, और इससे उसका उत्साह-भंग होने की भी आशंका है। यह संयोग पर निर्भर है कि पुस्तक छप जाने पर कोई उसका आदर करने वाला मिल जाए और लेखक की खासी प्रसिद्धि हो जाए। पर यह भी हो सकता है कि प्रकाशन कार्य में पूँजी फँस जाने से निर्धन लेखक की आर्थिक-स्थिति और भी शोचनीय हो जाए।

विशेष वक्तव्य—देश में साहित्य का समुचित प्रकाश फैलाने के लिए तथा साहित्य-सेवियों की बेढब कुर्बानी न होने देने के लिए यह आवश्यक है कि लेखक अपने श्रम का प्रतिफल पाने के लिए बेहद आतुर न हों और उन्हें प्रकाशकों की भली-बुरी सभी शर्तें न माननी पड़ें। यह तभी सम्भव है जब उनमें संघ-शक्ति हो, उदार प्रकाशकों की, अथवा ऐसे धनी सज्जनों की या संगठित संस्थाओं की यथेष्ट संख्या हो, जो साहित्य-सेवियों को समुचित आश्रय दे सकें। चाहता हूँ कि ऐसा समय शीघ्र ही आए, और लेखकों को प्रकाशन-भार अपने ऊपर लेने की आवश्यकता न पड़े।

———

सातवाँ अध्याय

पहले पाँच वर्ष

'सुख अपने पसन्द का काम करने में नहीं है, बल्कि जो काम हमें करना पड़ता है, उसे पसन्द करने में है।'

सन् १९१५ में मैंने भारतीय ग्रंथमाला की 'भारतीय शासन' पुस्तक लेकर साहित्यिक जीवन में प्रवेश किया। यहाँ उस जीवन के पहले पाँच वर्ष की बात कहने के लिए उस समय की राजनैतिक स्थिति का कुछ परिचय देना ठीक होगा।

देश की राजनैतिक स्थिति और साहित्य—सन् १९१४ में यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ हो चुका था। उसमें इंगलैंड और मित्र राष्ट्रों ने पराधीन देशों के लिए आत्म-निर्णय ('सेल्फ डिटरमिनेशन') के सिद्धान्त की घोषणा की थी। इससे भारतीय जनता में स्वराज्य प्राप्ति के लिए नयी आशा और उत्साह का संचार हुआ। इसी समय लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनीविसेन्ट ने 'होमरूल-लीग' (स्वशासन-संघ) स्थापित की। देश भर में जगह-जगह इसकी शाखाएँ फैल गयीं। लोकमान्य का यह वाक्य आदमी-आदमी की जबान पर चढ़ गया—'स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लूंगा।' भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाएँ बढ़ती जा रही थीं। राष्ट्रीय महासभा अर्थात् कांग्रेस जनता के असंतोष को अधिकाधिक व्यक्त करती जा रही थी। ब्रिटिश पार्लिमेंट को यह अनुभव होता जा रहा था कि अब भारत की शासन-पद्धति में विशेष सुधार करने और भारतीयों को यथेष्ट अधिकार देने की आवश्यकता है। यहाँ विविध दलों तथा नेताओं ने शासन सुधार की तरह-तरह की योजनाएँ बनायीं, उनमें कांग्रेस-लीग योजना (जो कांग्रेस

और मुसलिम लीग के लखनऊ के समझौते के फलस्वरूप बनी थी) विशेष प्रतिनिध्यात्मक थी। इस प्रकार चारों ओर राजनैतिक चर्चा थी। समाचार पत्रों में भावी शासन सुधारों के सम्बन्ध में खूब लेख निकलते थे। छोटे-छोटे ट्रेक्टों का भी अच्छा प्रचार था। तथापि सन् १६१५ से पहले हिन्दी में या उर्दू में (और सम्भवतः भारत की दूसरी भी अधिकांश भाषाओं में) भारतीय शासन पद्धति का पूरा चित्र उपस्थित करने वाली एक भी पुस्तक न थी। ऐसी स्थिति थी, जब हिन्दी जगत की सेवा में 'भारतीय शासन' प्रस्तुत की गयी।

'भारतीय शासन' की समालोचना—जिस समय मेरी 'भारतीय शासन' छपी, उसी के आस-पास इस विषय की दो पुस्तकें और भी प्रकाशित हो गयीं :—(१) पंडित अम्बिकाप्रसाद जी बाजपेयी की 'भारतीय शासनपद्धति' (प्रथम भाग), और, (२) श्री राधाकृष्ण झा की 'भारत शासन-पद्धति'। इनमें से पहली में कई बातें बहुत विस्तार-पूर्वक वर्णन की गयी थीं, परन्तु प्रथम भाग ही होने से वह पुस्तक अधूरी थी। दूसरी पुस्तक की विशेषता यह थी कि उसमें भारतवर्ष की आधुनिक शासन-पद्धति का वर्णन करने से पूर्व हिन्दुओं, मुसलमानों तथा मराठों की शासन-पद्धति का भी परिचय दिया गया था। दोनों पुस्तक-लेखक सुप्रसिद्ध विद्वान थे, जब कि मैं नया और प्रायः अपरिचित ही था। तथापि सम्पादकों एवं पाठकों द्वारा मेरी पुस्तक का विशेष स्वागत हुआ। उन दिनों समालोचना के लिए पुस्तक की एक-एक ही प्रति भेजी जाती थी, तो भी अधिकांश सम्पादक समालोचना करने की ओर काफी ध्यान देते थे। पक्षपात या लिहाज बहुत कम होता था; और, साथ ही पाठकों को समालोचनाओं में विश्वास भी बहुत था।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में 'सरस्वती' की धाक थी। उसके थोड़े से भी शब्दों का बड़ा प्रभाव पड़ता था। 'भारतीय शासन' के सम्बन्ध में उसका यह लिखना कुछ कम न था—"इसमें समग्र शासन प्रणाली का दिग्दर्शन है।...........बड़ी अच्छी पुस्तक है, सामयिक है, शासन से

सम्बन्ध रखने वाली बातों का स्थूल ज्ञान प्राप्त करने के लिए आइने का काम देनेवाली है। अच्छी छपी है। जिल्ददार है।" पाटलीपुत्र, चान्द, विद्यार्थी, नवजीवन, हिन्दी केसरी, हिन्दी समाचार, चित्रमय जगत, श्रीवेंकटेश्वर समाचार, जयाजी प्रताप—सभी ने पुस्तक की प्रशंसा की थी। इनके अलावा और भी बहुत से पत्र-पत्रिकाओं की समालोचनाएँ मेरी नोट-बुक में दर्ज हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने खूब विस्तार-पूर्वक लिखा था। सुप्रसिद्ध अंगरेजी मासिक 'मार्डन रिवियु' ने भी पुस्तक बहुत सराही थी।

विविध सज्जनों द्वारा स्वागत—सम्पादकों के अतिरिक्त अन्य सज्जनों के भी प्रोत्साहन-पत्र मेरे पास आये। कुछ पत्र-प्रेषक निम्न-लिखित थे:—सर्वश्री श्रीकृष्णदास जाजू, रायसाहब करोडीमल मालू, बाबू श्यामसुन्दर दास, मैथिलीशरण गुप्त, श्यामबिहारी मिश्र, राधाकृष्ण झा, राज्य-रत्न मास्टर आत्माराम दूदानी (इस्पेक्टर-आफ-स्कूल्स, बडौदा) आदि। श्री आत्माराम जी, कराची, से तो इस पुस्तक ने बहुत ही पत्र-व्यवहार-सम्बन्ध स्थापित किया। मेरे नागपुर के मित्रों को मेरी इस रचना से मालूम हुआ कि मैं हिन्दी के बारे में कोरी बातें ही नहीं करता, कुछ काम भी करता हूँ। उनमें से कुछ को इससे काम करने की प्रेरणा मिली। माहेश्वरी तथा मारवाड़ी समाज के शिक्षित वर्ग को इस पुस्तक की प्रशंसा ने हर्ष और गर्व करने का अवसर दिया। राठी जी ने उक्त आलोचनाओं से संतोष न कर श्री गणेश-शंकर विद्यार्थी, सम्पादक 'प्रताप', की सम्मति मांगी। विद्यार्थी जी ने अस्वस्थ होते हुए भी उत्तर दिया, लिखा—'पुस्तक में बातें बहुत संक्षेप में कही गयी हैं, यह उसकी खूबी है, परन्तु कहीं-कहीं यह उसका दोष भी है...तो भी पुस्तक अच्छी है, और हिन्दी पाठकों के लिए बहुत अच्छी।'

इस प्रकार इस पुस्तक द्वारा भारतीय ग्रन्थमाला का श्रीगणेश होना बहुत शुभ-सूचक हुआ। सम्पादकों की समालोचना ने मेरे लिए विज्ञा-

पन का काम किया, और जहाँ-तहाँ से पुस्तक की माग अथवा बधाई के पत्र मिले। खूब उत्साह बढ़ा।

ग्रन्थमाला की दूसरी पुस्तक—एक पुस्तक का संकल्प था, उसके पूरे होने से बड़ा संतोष हुआ। पीछे दूसरी पुस्तक छपने का भी प्रसंग जल्दी आ गया। इसे 'भारतीय विद्यार्थी विनोद' नाम से, श्री पंडित रामजीलाल शर्मा ने विद्यार्थी कार्यालय, प्रयाग, से प्रकाशित करने की कृपा की। मेरी इच्छानुसार उन्होंने इस पर भारतीय ग्रंथमाला की संख्या भी डाल दी। इस पुस्तक में 'माहेश्वरी' में प्रकाशित 'हमारे पाठ्य विषय' लेख माला के अतिरिक्त, छात्रोपयोगी कुछ अन्य लेख थे। इसकी भी अच्छी समालोचनाएँ हुई।

स्कूल का कार्य—मैं साहित्यिक जीवन में प्रवेश कर चुका था। परन्तु यह तो कल्पना ही नहीं थी कि मैं एकमात्र साहित्य-कार्य में लगा रहूँगा। ऐसा करने करने के लिए साधन भी नहीं थे, और साधनों की खोज भी नहीं थी। निदान, ब्यावर के स्कूल में मैं उत्साह-पूर्वक कार्य करता रहा। मैंने यथा सम्भव विद्यार्थियों एवं शिक्षकों के दृष्टिकोण को समझने और उन्हें संतुष्ट रखने का प्रयत्न किया, और स्कूल कमेटी (सनातन धर्म सभा, ब्यावर) को किसी शिकायत का अवसर न दिया, वरन् समय-समय पर मैं उस के द्वारा स्कूल के आवश्यक कार्यों में अधिकाधिक व्यय भी करा सका।

व्यापार-व्यवसाय में अरुचि—राठी जी चाहते थे कि मैं मिल का काम देखूँ और समझूँ; उसमें मैं उनको संतुष्ट न कर सका। यद्यपि उन्होंने मेरे लिए हर प्रकार की सहूलियत की, मैं उस कार्य में यथेष्ट ध्यान न दे सका। कुछ समय बाद मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि मिल के काम में समय लगाना, समय का अपव्यय है। मुझे स्कूल के कार्य से जो अवकाश मिलता उसे राठी जी के पास आने वाली विविध पत्र-पत्रिकाओं और नयी-नयी पुस्तकों को देखने में लगा देता। यही बात पीछे बम्बई में हुई। भाई

गिरधारीलाल जी के कहने से मैं वहाँ सेठ जमनालाल बजाज के पास व्यवसाय कार्य में भाग लेने के लिए चला ती गया। पर मन उसमें नहीं लगा। अधिकतर समय लेखकों, सम्पादकों या प्रकाशकों से मिलने में बिताता रहा। पीछे बीमार होने पर वहाँ से लौट आया।

मेरा विवाह—मेरे विवाह की बात कुछ समय से चल रही थी। मैं उसे टाल रहा था। पर मेरी बात में कुछ जोर नहीं था, मन में कोई स्पष्टता, निश्चितता या दृढ़ता नहीं थी। मैंने यह नहीं सोचा कि मेरे जीवन के कार्यक्रम में विवाह कहाँ तक साधक अथवा बाधक होगा, अथवा मैं विवाहित जीवन के लिए कहां तक उपयुक्त हूँ। उधर, भाई गिरधारीलाल जी मेरा विवाह करके अपने एक कर्तव्य-भार से मुक्त हो जाना चाहते थे। अस्तु मेरा विवाह मुरेना (गवालियर) निवासी सेठ मिट्ठालाल जी की पुत्री श्रीमति कलावती से फरवरी १६१६ में हो गया।

मेरा विवाह-सम्बन्ध कराने में बाबू कन्हैयालाल जी राठी, वकील, मथुरा, का खास हाथ था। सेठ मिट्ठालाल जी आपके ममया स्वसुर थे। बाबू कन्हैयालाल जी का मुझसे अच्छा स्नेह रहा। आपने चाहा कि मैं आप के पास रहूँ, इसलिए आपने पीछे मुझे प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन, के 'प्रेम' पत्र का सम्पादक नियुक्त कराने में योग दिया। जब मैं वृन्दावन, रहने लगा तो आप समय-समय पर मुझसे मिलते रहते और आवश्यक सहायता या परामर्श देते रहते थे। मेरे साहित्य-कार्य से आपकी बहुत सहानुभूति रही। आपके मन में कई बार वकालत छोड़ कर त्याग-भाव से सेवा कार्य करने का विचार आया, पर वह अमल में नहीं आया।

'जयाजी-प्रताप' में—दिसम्बर १६१६ में मैं श्री रायबहादुर श्यामसुन्दर लाल जी के पास मुरार (गवालियर) गया। उनकी सिफारिश से 'जयाजी-प्रताप' के सम्पादकीय विभाग की एक अस्थायी जगह पर मेरी नियुक्ति हो गयी। इस रियासती पत्र के सम्पादक थे श्री रामचन्द्र गुप्ता और सहकारी सम्पादक थे ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा। क्रमशः श्री वर्मा जी से घनिष्ठता बढ़ी, ये साहित्यिक थे, इन्होंने कई अच्छी-अच्छी पुस्तकों

की रचना की थी। ये मुझसे बहुत स्नेह करते थे।

'जया जी प्रताप' में मेरे लेखों पर मेरा नाम नहीं दिया जाता था। मुझे अधिकतर समाचार छाटने, या अँगरेजी पत्रों के आधार पर कुछ नोट लिखने का काम रहता। कभी-कभी प्राप्त पुस्तकों तथा पत्र पत्रिकाओं की समालोचना भी लिखता था। एक बार मुन्शी बृजवासी-लाल जी की भूगोल की पुस्तकें, तथा कुछ अन्य पुस्तकें मिलीं। ये मुझे बहुत पसन्द आयीं; मैंने सविस्तर समालोचना लिखी। सम्पादक जी को इसकी आवश्यकता न थी, उन्होंने कुछ पंक्तियाँ रखकर शेष सब रद्द कर दी। मुझे अपना परिश्रम व्यर्थ जाते देख कर बहुत बुरा लगा। मुझे यह अनुभव हुआ कि यहाँ मेरा कुछ विशेष उपयोग नहीं है। मेरी जगह अस्थायी तो थी ही। मार्च के बाद वहाँ मेरी आवश्यकता न रही। ता० २८ मार्च को मैंने अपनी डायरी में लिखा :—

"मेरी इच्छा है—भगवान पूरी करें—कि सन १६१६ ई० में स्वतन्त्र साहित्य सम्बन्धी उद्योग करूं। दूसरे की अधीनता में पत्र-सम्पादन करने में अपने विचारों का हनन न करूं। सेवा-कार्य महा कठिन है। 'भारतीय संसार' नाम का मासिक पत्र और भारतीय ग्रन्थमाला का कार्य चलाने की बहुत आवश्यकता है।"

चिन्तामय जीवन; परमात्मा के नाम पत्र—भाई गिरधारी-लाल जी के कहने से मैंने अपने गौने (द्विरागमन) के लिए श्री सेठ दामोदरदास राठी से कुछ रुपया उधार लिया था। उनका किसी प्रकार का तकाजा न था, तो भी मुझे उऋण होने की चिन्ता थी। गृहस्थ-जीवन निरस ही नहीं, कष्टमय था। घर का खर्च किसी प्रकार चलाना था। 'जयाजी-प्रताप' से नौकरी छुट जाने पर बड़ी फिक्र हुई। यद्यपि जल्दी ही वहाँ 'कस्टम' विभाग में जगह मिल गयी, पर काम मेरी रुचि का न था। फिर, मैं दफ्तर का बहुत कम काम निपटा सकता था, मैं वहाँ अधिकतर समय किसी पुस्तक आदि के पढ़ने में बिताता। कभी-कभी कागज के टुकड़ों पर परमात्मा को पत्र लिखता और उसके कल्पित

उत्तर का जवाब देता। इस प्रकार मैं अपनी मानसिक वेदना को भुलाया करता। ये पत्र अँगरेजी में होते थे, शायद इसलिए कि दफ्तर के दूसरे आदमी इन्हें न समझ पावें। ऐसे एक पत्र का अनुवाद इस प्रकार है :—

पत्र संख्या............... तारीख...............

स्थान असीमित

सृष्टि के प्यारे प्रभु, और पिता, सबके उत्पादक और विनाशक !

मेरा समाचार तेरी सेवा में पहुँचा होगा। मुझे तेरा आदेश विधिवत प्राप्त हो गया है। तू कहता है कि अब तुझे और क्या चाहिए। उत्तर में यही निवेदन है कि यद्यपि तेरे विशाल भंडार में कमी किसी वस्तु की नहीं है, मुझे यह ज्ञात नहीं है कि मेरे लिए कौनसी बात सबसे अधिक अनुकूल पड़ेगी। जैसा कृपालु तू अपनी नियामतें प्रदान करने में है, वैसा ही दयालु तू उन्हें मेरे लिए बांटने में भी हो। मुझे ऐसी परिस्थिति में रख, और मेरे लिए ऐसे कर्तव्य निर्धारित कर कि मेरी उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो, जिससे तेरी ज्योति प्रकाशमान हो और यह विदित हो कि मैं कोई मार्ग-भ्रष्ट आत्मा नहीं हूँ, वरन् तेरी विशाल आत्मा का ही अङ्ग हूँ। मेरी कामना सेवा हो, मेरा लक्ष्य निष्काम कार्य हो, और तू स्वयं मेरा अन्तिम ध्येय हो। इससे कम मुझे स्वीकार नहीं है। आशा है, जल्दी कृपा-युक्त उत्तर मिलेगा।

तेरा आज्ञाकारी सेवक

....

प्रेषक :—

तेरी (प्रभु की) वह आत्मा जो इस संसार में 'भगवानदास' नामक शरीर धारण करके प्रकट हुई है और...............माता पिता से उत्पन्न हुई है।

गवालियर से अलीगढ़—मेरा गवालियर का जीवन अल्पकाल का ही रहा। विशेषतया श्री भागीरथदास भूतडा की प्रेरणा से

मैं अगस्त १९१७ में अलीगढ़ आ गया। यहाँ मैं श्री माहेश्वरी विद्यार्थी आश्रम का सुपरिंटैंडैन्ट नियुक्त हुआ। 'माहेश्वरी' पत्र में लेख तो पहले से ही लिखता था, अब उसके सम्पादन में भी भाग लेने लगा। उसके संचालक, भूतडा जी की बहुत इच्छा थी कि मैं उसका सम्पादक हो जाऊँ। सम्पादक के नाते लिखा हुआ मेरा 'कांटों का मुकुट' शीर्षक प्रथम् अग्रलेख भी तैयार हो गया था। परन्तु इसी बीच में अनुभव हुआ कि यद्यपि भूतडा जी मुझे बहुत चाहते हैं, उनकी तथा मेरी नीति में पर्याप्त मत-भेद है; सम्पादक का कार्य करते हुए मैं उनके आदेशों का पूर्णतया पालन न कर सकूंगा, और अन्ततः मनोमालिन्य बढ़ेगा। अस्तु, मैंने सम्पादक होना स्वीकार न किया, और धर्म-समाज-पाठशाला (हाई स्कूल) में सहायक अध्यापक हो गया।

राठी जी से अन्तिम भेंट—भूतडा जी का राठी जी तथा जाजू जी से सामाजिक कार्य-नीति के सम्बन्ध में मत-भेद था। दोनों पक्ष मुझसे स्नेह करते थे, परन्तु मैं दोनों का समझौता कराने में असमर्थ रहा। यद्यपि मैं भूतडा जी के समाज-प्रेम का यथेष्ट आदर करता था, मेरा झुकाव अधिकतर दूसरे पक्ष की ओर था। निदान, अलीगढ़ रहते हुए भी राठी जी से समय समय पर पत्र-व्यवहार बना रहा; एक बार वे इधर आये तो उनसे अच्छी तरह बातचीत करने का अवसर मिला।

दिसम्बर में, उनकी बीमारी में, मैं उनसे मिलने ब्यावर गया। बीमार होते हुए भी उन्होंने मुझसे बहुत वार्तालाप किया। बात-चीत अधिकतर हिन्दी में ही थी, पर बीच-बीच में वे जोश में आकर अंगरेजी में बोलने लगते थे। एक बार उन्होंने कहा :—Wanted myrters for the country & the community. (देश और जाति के लिए शहीदों की आवश्यकता है) Be firm to your convictions (अपने विश्वास पर दृढ़ रहो); नुष्य बड़े बड़े पद प्राप्त कर लेते हैं, बड़े काम नहीं करते, प्रशंसा के अभिलाषी बने रहते हैं। राठी जी

के ये उद्‌गार उनके भावों के द्योतक है; उनके शब्द मेरे कानों में बहुत समय तक गूंजते रहे। तीन दिन उनके पास ठहर कर जब मैंने उनसे विदा चाही तो उन्होंने कहा कि 'रहे तो थोड़े ही समय, पर रहे सगे भाई की तरह।' 'सगे भाई की तरह'-ये शब्द मुझे रह-रह कर याद आते हैं, और उनके स्नेह की याद दिलाते हैं। श्री राठी जी का शरीर ता० २ जनवरी १६१८ ई० को पूरा हो गया। उसके पश्चात् शीघ्र ही मैं ने उनका जीवनचरित्र लिखना आरम्भ कर दिया।

भारतीय राष्ट्र-निर्माण—मुझे सर जान स्ट्रेचे आदि अंगरेजों का यह लिखना बहुत अखरा था कि भारतवर्ष भूत काल में कभी एक राष्ट्र नहीं था; इस समय भी एक राष्ट्र नहीं है, और निकट भविष्य में इसके एक राष्ट्र होने की सम्भावना नहीं है। मैंने इसके विपरीत एक लेख में यह सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के सब साधन हैं, और इनकी उन्नति से राष्ट्र का यथेष्ट निर्माण हो सकता है, और हो रहा है। मैंने यह लेख भारतीय शासन के आरम्भ में देने का विचार किया था, पर उसमें अप्रासंगिक प्रतीत होने पर रोक लिया। पीछे इस विषय पर और विचार होता रहा और क्रमशः एक स्वतंत्र पुस्तक (भारतीय राष्ट्र-निर्माण) ही हो गयी। इसमें बम्बई के मुद्रकों को कुछ अप्रिय राजनैतिक गंध आने से इसे कई प्रेसों की हवा खानी पड़ी। आखिर, श्री गिरिजाकुमार घोष के सहयोग से यह लीडर प्रेस, प्रयाग, में छप सकी। दो संस्करणों के बाद इसके विषय में यथेष्ट परिवर्तन करके इसे 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' किया गया।

श्री ईश्वरीप्रसाद और कर्ण कवि। अलीगढ़ में, जून १६१८ से मैं श्री माहेश्वरी विद्यार्थी आश्रम का सुपरिंटेंडेंट नहीं रहा, केवल स्कूल का काम करता रहा। यहाँ अन्यान्य सज्जनों में श्री पंडित ईश्वरी प्रसाद तथा कर्ण कवि से बहुत घनिष्ठता तथा साहित्यिक सम्बन्ध रहा। पं० ईश्वरीप्रसाद जी स्कूल में मेरे सहयोगी अध्यापक थे, और श्री कर्ण कवि 'माहेश्वरी' के बहुत समय तक सम्पादक रहे थे। 'माहेश्वरी'

में मेरे जो लेख प्रारम्भ में निकले, वे इनके ही सम्पादन काल में प्रकाशित हुए। उक्त दोनों सज्जन बहुधा मेरे दुख सुख में साथ देते रहे, और मैं कई बार मनोरंजनार्थ इनके यहाँ गांव में भी गया। ये दोनों सज्जन कवि थे, मैंने इनसे भारत-माता की स्तुति सम्बन्धी रचना करने के लिए आग्रह किया। आखिर, पंडित ईश्वरीप्रसाद जी ने 'मातृ-बन्दना' की रचना की और उसे प्रकाशित किया।*

सन् १६१६ में मेरी इच्छाएँ—किसी मनोहर प्राकृतिक दृश्य को देखकर या विशेष हर्ष अथवा विशेष शोक आदि की अवस्था में समय समय पर मेरे लिए अपने जीवन पर नजर डालने का प्रसंग उपस्थित हुआ है; खासकर हिन्दी तथा अंगरेजी वर्ष का पहला दिन और मेरा जन्म-दिन विशेष विचारोत्तेजक रहे हैं। दिवाली के दिन आय-व्यय का विचार करते हुए भी मैंने प्रायः यह सोचा है कि गत वर्ष क्या कार्य किया गया, कौनसा अधूरा हुआ या बिल्कुल नहीं हो पाया, तथा अगले वर्ष क्या-क्या किया जाना चाहिए।

सन् १६१६ में मैंने डायरी में अपनी ये इच्छाएँ नोट की थीं—

१—भारतीय ग्रन्थमाला, निबन्ध माला, समाचार पत्र और पत्रिका आदि।

२—भारत माता का मन्दिर, उसके साथ साथ भारतीय भवन, वाचनालय, पुस्तकालय, औषधालय, व्यायामशाला आदि।

३—भारतीय मित्र मंडल, सेवा समाज, साहित्य सभा, उद्योग समिति आदि।

४—माहेश्वरी ग्रन्थमाला और निबन्ध माला आदि।

---

* नवम्बर १६२५ में पंडित जी का स्वर्गवास हो जाने पर उनकी यादगार के रूप में मैंने उसका दूसरा संस्करण छपाना चाहा, परन्तु उनके पुत्र हरिश्चन्द्र जी की सहमति न होने से वह कार्य नहीं किया जा सका। हरिश्चन्द्र जी ने खुद भी उसे प्रकाशित न किया।

इस वर्ष मई मास में मैंने अपनी डायरी में नोट किया था कि नीचे लिखे विषयों की पुस्तकें लिखी जानी चाहिएँ—

१—बीसवीं सदी (उन्नीसवीं सदी का प्रायश्चित)

२—संसार के वर्तमान आन्दोलन (गत पचास वर्ष का इतिहास)

३—भारतीय सभ्यता

४—साहित्य में श्रम और पूँजी की समस्या

५—सभ्यता और मानवी सुख-दुख

६—वर्तमान समस्याएँ

जैसलमेर में सुधार आन्दोलन—पहले कहा जा चुका है कि हमारे पूर्वज उत्तर भारत में जैसलमेर से आये थे। इसलिए हम जैसलमेरी, राजस्थानी या मारवाड़ी आदि भी कहे जाते हैं। प्रान्तीयता सूचक यह बात क्रमशः कम हो रही है। हमारी भाषा, पहनावा और रहन-सहन बहुत-कुछ दूसरों जैसा ही हो गया है और होता जा रहा है। तथापि सामाजिक व्यवहार और विवाह शादी आदि के प्रसंग में कुछ भिन्नता का परिचय मिलता है! कुछ जैसलमेरी (माहेश्वरी) अपने विवाह शादी जैसलमेरियों में ही करते हैं, और कभी कभी कोई विवाह जैसलमेर जाकर भी करते हैं। जैसलमेर जाकर विवाह करने में एक लक्ष्य किफायतशारी का भी होता है। जब वर वधु पक्ष के व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार यहां काफी खर्च करने में असमर्थ होते हैं, तो वे वहां जाकर थोड़े से ही खर्च में काम निपटा आते हैं। बात यह है कि जैसलमेर में विवाह का मुहूर्त राजा के नाम पर निकाला जाता है, और कभी-कभी वह मुहूर्त दो-दो तीन तीन वर्ष में आता है। सब विवाह एक ही दिन होते हैं। बारात नाम-मात्र की होती है। बिरादरी के भोजन आदि की मद का खर्च भी बहुत ही कम होता है। आवश्यकता है कि आदमी अपने अपने स्थानों में ही कम खर्च में काम करने

की हिम्मत दिखावें; आत्म-बल की कमी से कितने ही व्यक्ति जैसलमेर जाना ही ठीक समझते हैं।

मैं अपनी भतीजी विद्यावती का विवाह करने के लिए जनवरी १६२० में जैसलमेर गया। हमेशा की तरह इस समय भी भारत के विविध प्रान्तों के कितने ही व्यक्ति वहाँ एकत्र हुए थे। इस उपस्थिति का लाभ उठाने के लिए हमने कुछ सार्वजनिक कार्य करने का निश्चय किया। राजा साहब से अलग-अलग न मिलकर उनसे सामूहिक भेंट की और उन्हें एक 'अभिनन्दन पत्र' दिया, जिसमें जनता की सब मुख्य-मुख्य मांगों का उल्लेख था। उस मांग-पत्र की, साइक्लोस्टाइल से लगभग सौ प्रतियां निकालकर खास-खास जगह भेजी और उसे कई पत्रों में प्रकाशित कराया। जैसलमेर की जागृति में इसका खास ऐतिहासिक महत्व हुआ। पीछे आन्दोलन-कर्ताओं को इसके रूप में एक आधार मिल गया। उत्साही युवक श्री सागरमल गोपा ने (जो पीछे राज्य के जेल में शहीद हुए) इसे पुस्तकाकार छपा कर इसका खूब प्रचार किया। जैसलमेर में (लगभग एक मास) रहते हुए हमने समय-समय पर कई सार्वजनिक सभाएँ की, जिनमें खासकर सामाजिक और नागरिक विषयों की चर्चा रही। सेवा-समिति की स्थापना हुई, स्कूल और पुस्तकालय के लिए चन्दा किया तथा स्कूल के बालकों में पारितोषिक वितरण किया।

'भारतीय जागृति' की प्रेरणा—मेरी आर्थिक और गृहस्थी सम्बन्धी चिन्ताओं के निवारण में मेरा प्रातः काल का भ्रमण बहुत सहायक होता था। मैं पशु-पक्षियों की चहचहाहट सुनता था, उनके सोकर उठने का विचार करता था, सोचता था कि रात्रि का अंत होकर प्रभात का उदय हो रहा है। मेरा भी कष्ट दूर होगा; और हाँ, व्यक्तियों की बात देश पर भी तो लागू होती है। भारत माता इतने समय रोगी रही, यह भी भली चंगी होगी; इसकी नींद समाप्त होगी, और यह जगेगी। इन विचारों ने मुझे भारतीय जागृति के विषय को पढ़ने

लिखने की प्रेरणा की। धीरे-धीरे मैंने इस नाम की पुस्तक तैयार करली। उसे मैंने अपने ही खर्च से छपाया।

इसी समय 'देशभक्त दामोदर' (स्वर्गीय दामोदरदास राठी का जीवन चरित) पुस्तक छपाने की भी योजना हो गयी। इसके लिए मुझे राठी जी की दुकान से सहायता मिली। मारवाड़ी शिक्षा-मंडल, वर्धा, ने (जिसके संयुक्त मत्री जाजू जी थे) मुझे इस पुस्तक पर सवा सौ रुपये पुरस्कार प्रदान किया।

विशेष वक्तव्य—मैं साहित्यिक जीवन में प्रवेश कर चुका था, पर इस समय तक मैं ने अपनी आजीविका का जो दूसरा कार्य किया, वही मुख्य रहा। अधिकांश समय और शक्ति उसमें लगती रही। उससे जो समय बच सका, वही ग्रन्थमाला के कार्य में लगा। यद्यपि समय समय पर यह विचार किया गया कि इसी कार्य में जुट जाना चाहिए, ऐसा करने के लिए आर्थिक साधन अथवा साझीदारों का सहयोग प्राप्त नहीं था। इस प्रकार मेरे साहित्यिक जीवन के पहले पाँच वर्षों में ग्रन्थमाला का कार्य साधारण ही हो सका, पर जैसी स्थिति थी, उसके अनुसार इसे भी कुछ कम नहीं कहा जा सकता।

----—

आठवाँ अध्याय

सम्पादकीय कार्य

रास्तोगी को न छोड़ा है न, छोड़ूंगा कभी।
सर रहे या न रहे. जान रहे या न रहे॥
जान के खौफ से, कर्तव्य से न हटूंगा कभी।
काम रह जायगा, इन्सान रहे या न रहे॥
आजमायश की घड़ी मिलती है किस्मत से कभी।
आन रह जाय, प्रभो जान रहे या न रहे॥

—अज्ञात

प्रेम महाविद्यालय और 'प्रेम'—अप्रेल १६२० में मैं 'प्रेम' का सम्पादक होकर वृन्दावन आया। यह पत्र प्रेममहाविद्यालय का मुख-पत्र था, जिसका भारत की शिक्षा-संस्थाओं में एक विशेष स्थान था। इस राष्ट्रीय संस्था को श्री राजा महेन्द्रप्रताप ने असहयोग आंदोलन से भी पहले इस उद्देश्य से स्थापित किया था कि बौद्धिक शिक्षा और शरीर-श्रम का समन्वय हो—शिक्षित कहे जाने वाले व्यक्तियों की हाथ के काम से अरुचि न हो, उन्हें उसका अभ्यास हो; साथ ही औद्योगिक ज्ञान प्राप्त करने वाले बौद्धिक शिक्षा से वंचित न हों। इस प्रकार समाज में समानता स्थापित होने में सहायता मिले; वर्तमान विषमता की खाई न रहे।

इस समय राजा साहब विदेशों में थे। महाविद्यालय का कार्य राजा साहब के पुराने मित्र और साथी बाबू नारायणदास जी देखते थे। ये 'प्रेम' के मुद्रक भी थे। इन्हीं दिनों स्वामी आनन्दभिक्षु महा-विद्यालय के आनरेरी जनरल मैनेजर नियुक्त हुए थे। आप 'प्रेम' के निरीक्षक थे। 'प्रेम' से विशेष सम्बन्ध इन्हीं दो सज्जनों से था।

'प्रेम' कई वर्ष पहले आरम्भ हुआ था। पर इन दिनों काफी समय से बन्द था। मुझे इसको प्रायः नये सिरे से ही चलाना था। मेरे सम्पादन में यह साप्ताहिक रूप में जून १९२० से निकलने लगा।

'प्रेम' की सामग्री—यद्यपि मैं ने पहले 'माहेश्वरी' के सम्पादन में योग दिया था। पर इस पत्र का तो पूरा ही उत्तरदायित्व मुझ पर था। प्रेम महाविद्यालय का मुख-पत्र होने के कारण 'प्रेम' से राष्ट्रीय और औद्योगिक दोनों प्रकार की सामग्री की आशा की जाती थी। पर औद्योगिक विषयों में मेरा ज्ञान एवं रुचि कम थी। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी होने से मैंने इस विषय के लेख दिये। पर पाठकों की रुचि इस ओर कम मालूम हुई। अस्तु; 'प्रेम' में अधिकतर राष्ट्रीय सामग्री रखी गयी। आरम्भ में कुछ समय काम चलाने के लिए मैंने उसका खूब संग्रह किया। पीछे तो अधिकाधिक सामग्री स्वयं आने लगी। मैं उसमें से काम की चीज छांटता। कई बार आये हुए लेखों में कड़ी काट-छांट करता, उन्हें संशोधित करता या फिर से लिखता। अग्रलेख तथा सम्पादकीय नोट लिखने के लिए सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का सूक्ष्म अवलोकन करता।

वह जमाना भारतीय इतिहास में विलक्षण महत्व का था। म० गाँधी इस देश के राष्ट्रीय रंग मंच के सूत्रधार थे। राजनैतिक आन्दोलन व्यापक रूप धारण कर वास्तव में जन-आन्दोलन बन रहा था। सविनय अवज्ञा, अहिंसात्मक क्रान्ति, पंजाब हत्याकाड, शासन-सुधारों का थोथापन सब की जबान पर था। म० गाँधी के लेखों और आदेशों की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती थी। प्रेम में ऐसी सामग्री को यथेष्ट स्थान दिया जाता था।

'प्रेम' में कविताएँ—अलीगढ़ के दो मित्रों—श्री कर्णकवि और पंडित ईश्वरीप्रसाद जी से घनिष्ठता थी। इनसे तो मैं तकाजा करके भी कविताएँ मंगा सकता था। ये दोनों सज्जन श्री नाथुराम 'शंकर' को बहुत

मानते थे। इनके द्वारा ही मेरा आप से परिचय हुआ, जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आपने भी 'प्रेम' में कविताएँ भेजने की कृपा आरम्भ से ही की। पीछे तो बहुत से कवियों से सम्बन्ध हो गया, और आवश्यकता से अधिक कविताएँ आने लगीं। मुझे उनमें से अच्छी कविताएँ छांटने का काम करना पड़ा। 'प्रेम' राष्ट्रीय विचारों का पत्र था, उसमें कविताएँ भी उसी दृष्टिकोण से प्रकाशित की जाती थीं। काव्य-ज्ञान न होने से मैं कविताओं के साहित्यिक गुणावगुणों का विशेष विचार नहीं कर सकता था। कविताओं के चुनाव में मुझे श्री स्वामी आनन्दभिक्षु का अच्छा सहयोग मिला।

स्थानीय उपयोगिता के लेख—तीर्थों में लोगों का जीवन कुछ विशेष अच्छा होने की मैं आशा नहीं करता था ; वृन्दावन आकर और यहाँ रह कर जो देखा-सुना, उससे श्रद्धा भक्ति और भी कम होने वाली थी। दुकानदारों का ग्राहकों को लूटने का भाव, रेल और पुलिस वालों की ऊपर की आमदनी, पंडों का आपस में लड़ाई-झगड़ा और मारपीट तथा जजमानों से दक्षिणा एंठने की प्रवृत्ति, भिखारियों की अधिकता, गांजा, भांग, शराब आदि मादक पदार्थों की असाधारण खपत, साधारण जनता की बोल-चाल में, खासकर होली आदि के अवसर पर, अपशब्दों का प्रयोग और अशिष्ट व्यवहार, मन्दिरों का आजीविका-प्राप्ति के साधन के रूप में उपयोग, पुजारियों और महन्तों आदि धर्माधिकारियों में नैतिक साहस की कमी, यहाँ तक उनके द्वारा सरकारी अधिकारियों की आवभगत और 'अमन-सभाओं' का आयोजन—इन बातों को देखकर मन में क्षोभ होता था। मैं सोचता था, तीर्थ कहे जाने वाले इस नगर में दूसरे स्थानों की अपेक्षा क्या यही विशेषता है कि यहाँ मनुष्य के पतन का अधिक परिचय मिलता है। समय-समय पर इन बातों की ओर ध्यान जाता था; जब कभी अवसर आया, मैंने 'प्रेम' में 'तीर्थों में आत्मिक पतन' और 'मथुरा-वृन्दावन का कर्तव्य आदि लेख लिखे।

'प्रेम' में सम्वाद—समाचार-पत्रों की एक खास आवश्यकता सम्वादों की होती है। इस ओर भी भरसक ध्यान दिया गया। मैं स्थानीय तथा जिले के सार्वजनिक कार्तकर्ताओं तथा सम्वाददाताओं और लेखकों से समय-समय पर मिलता रहा। मथुरा तो निकट ही था; वहाँ तो बहुधा जाना आना रहता था। मैं इस जिले के अन्तर्गत माट, छाता, कोसी, महावन आदि भी गया, और इन स्थानों के सम्वाददाताओं से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया। मेरी, राजनैतिक आन्दोलन में दिलचस्पी थी; मैं एक वर्ष स्थानीय कांग्रेस कमेटी का मंत्री भी रहा। इस प्रकार मैं सर्व-साधारण के सम्पर्क में आया। पत्र की नीति निर्भीक राष्ट्रीय थी। यह विशेषतया मथुरा जिले की राष्ट्रीय जागृति में अच्छा सहायक हुआ, और फलस्वरूप अधिकारियों की आँखों में खटकता रहा।

एक सनसनीदार घटना और उसका सम्वाद—मथुरा जिले का एकमात्र सार्वजनिक पत्र होने के नाते 'प्रेम' विविध सामयिक घटनाओं पर प्रकाश डालना अपना कर्तव्य समझता था। ता० २१ सितम्बर १९२० को प्रातःकाल मुझे खबर मिली कि बृन्दावन में एक बलात्कार की घटना हुई है। यह भी सुना गया कि पुलिस कुछ ले-दे कर, इस मामले को दबा देनी चाहती है। कई आदमी यह समाचार देने को मेरे पास आये, पर सब जबानी बात कहते थे। कोई इसे लिख कर देने की हिम्मत न कर सका। पत्र में सम्वाद जाए, यह सब की इच्छा थी। मैं भी इसे आवश्यक समझता था। आखिर, 'देवदूत' के नाम से निम्न-लिखित सम्वाद प्रकाशित किया गया :—

वृन्दावन में घोर अत्याचार
कन्याओं का सतीत्व संकट में

'वृन्दावन के गोपीनाथ बाजार में बड़ी सनसनी मची हुई है। लोग-बाग आपस में कह रहे हैं कि आज गोपीनाथ बाग में अमुक ऊँचे महल वाले ने बेचारी इस गरीब कन्या को अपना शिकार बनाया, और साफ छूटा जाता है, तो हमारी बहू बेटियों की रक्षा कैसे होगी, हमारी मां-

बहिनों की इज्जत कैसे रहेगी। भीतर ही भीतर आदमी सब दुखी हैं, परन्तु जबरदस्तों की जबरदस्ती से बचने के विचार से कोई आगे बढ़ने और साफ-साफ बात कहने के लिए तैयार नहीं। क्या धर्म के लिए कोई भी कुछ जोखम उठाना नहीं चाहता!

'अच्छा मैं भी देखता हूँ कि कोई नरपिशाच किस तरह से ३०० + २०० के बल पर अपने अधर्म को छिपा सकता है, और, ये ५०० किस-किस को हजम होते हैं। मैं चेतावनी देता हूँ कि इस गरीब शिकार को कोई अकेला न समझे, इसके पक्ष में वे आत्मिक शक्तियाँ हैं, जिनके सम्मुख यहाँ के बड़े बड़ों को नवना पड़ेगा। खबरदार! अब भी सम्भल जाओ, अन्यथा यह वृन्दावन श्रीकृष्णचन्द की भूमि अत्याचारियों का दमन करने के लिए प्रसिद्ध है।

'करीब है यार रोज-ए-महशर,
छिपेगा कुश्तों का खून क्यों कर?
जो चुप रहेगी जबान-ए-खंजर,
तो खूं पुकारेगा आस्तीं का॥'

सम्वाददाता की खोज; आधुनिक दंड—यह सम्वाद ८ सितम्बर के 'प्रेम' में छपा। इस पर पुलिस इन्स्पेक्टर मेरे पास आये और पूछने लगे कि 'देवदूत' का असली नाम और पता-ठिकाना क्या है। ऐसा प्रतीत होता है, उसे इस मामले की कुछ विशेष जानकारी है। मैंने सम्वाददाता का परिचय देने में असमर्थता सूचित की और, अगले अंक में 'जिज्ञासु' की ओर से एक सुदीर्घ वार्तालाप प्रकाशित किया; उसका शीर्षक था, "अत्याचार का मामला, देवदूत से मुलाकात।" अस्तु; मामला दबा न रह सका, वह अदालत में गया। हाँ, चाहे पुलिस के इशारे से हो, या वैसे ही, अदालत की ओर से मुझे आदेश मिला कि 'देवदूत' कौन व्यक्ति है, यह बतलाओ। इस पर मैंने जवाब दे दिया कि सम्वाददाता का नाम बताना नीति-विरुद्ध है, सम्पादक उस सम्वाद का पूर्ण उत्तरदायित्व ग्रहण करने के तैयार है। निदान,

एक नोट ता० ५ जुलाई के 'प्रेम' में प्रकाशित करके उनका ध्यान उनकी जिम्मेदारी की ओर आकर्षित किया।

जेल का अनुभव—६ दिसम्बर १९२१ को वृन्दावन में, राष्ट्रीय स्वयंसेवक भरती करने के लिए, सार्वजनिक सभा हुई उसमें मैंने भी भाषण दिया। इससे २१ ता० को अन्य दो सज्जनों के अतिरिक्त, मेरे नाम दफा १७ ए० क्रिमिनल एमेंडमेंट एक्ट के अनुसार वारंट आया। इसकी मुझे पहले से ही आशा और इन्तजार थी। मुझे पहले दिन स्थानीय कोतवाली में रखकर अगले दिन मथुरा जेल के हवालात में लाया गया। जेल में मुझे एक बात से बहुत मानसिक कष्ट हुआ। मैंने देखा कि बहुत से युवक जो अन्दोलन के समय केवल क्षणिक आवेश में, बिना विशेष विचार और तैयारी किये ही जेल चले गये थे, वे वहाँ थोड़ी-थोड़ी तकलीफ से घबराते थे। 'ऊंची' जाति वालों को छूत-छात का बड़ा विचार था। जिन्हें बीड़ी पीने की आदत थी, वे बीड़ी न मिलने से ही बहुत परेशान थे, और जेल के सामान्य कर्मचारियों के आगे बीड़ी पाने के लिए बड़ी दीनता प्रकट करते थे। इस प्रकार कितने ही व्यक्ति माफी माग कर या अन्य उपाय से जेल से छुटकारा पाने के लिए उत्सुक रहते थे और आन्दोलन की निर्बलता सूचित करते थे। बहुत से व्यक्ति जेल जाते समय तथा जेल से लौटने पर आत्म-विज्ञप्ति के बहुत इच्छुक होते थे। मुझ में ये बातें नहीं थी, पर मुझे अपने अन्दर एक दूसरा दोष प्रतीत हुआ। जेल से लौटने पर कुछ दिन मेरे मन में ऐसा भ्रम रहा कि मानों मैंने जेल में रहकर कुछ पुण्य संचय किया है, और मैं कुछ ऊँचा हो गया हूँ। यह अभिमान क्रमशः लुप्त हुआ।

'प्रेम' में विज्ञापन—पत्र पत्रिकाओं के साथ विज्ञापनों का सम्बन्ध प्रायः अनिवार्य हो गया है, आजकल विज्ञापन उनका जीवन होता है। मैंने कभी यह आदर्श तो नहीं रखा कि 'प्रेम' में विज्ञापन प्रकाशित ही न हों; हाँ, इस बात के लिए सदैव सतर्क रहा कि विज्ञापन 'अच्छे' हों; वे पाठकों को ठगने वाली औषधियों आदि के न हों। ज्यों-ज्यों 'प्रेम' का

प्रचार बढ़ता गया, विज्ञापन भी अधिक आने लगे, उनमें से छांट कर जो अच्छे जचते थे, वे ही प्रकाशित किये जाते थे। अनेक बार मैंने ऐसे विज्ञापनों को अस्वीकार कर दिया, जो अन्य प्रतिष्ठित राष्ट्रीय पत्रों में छप रहे थे। प्रायः यह कह दिया जाता है कि विज्ञापन विभाग मैनेजर के अधीन है, सम्पादक का उसके लिए कोई उत्तर-दायित्व नहीं। मुझे इसमें कुछ तत्व नहीं मालूम होता। मैं यह अच्छा नहीं समझता कि जो पत्र-पत्रिका त्याग और संयम आदि का उपदेश या परामर्श दे, वह विलासिता की सामग्री और झूठी दवाइयां आदि का प्रचार करे, अथवा पहेली आदि के रूप में पाठकों का जुए की ओर प्रेरित करे। लेख-विभाग और विज्ञापन विभाग की इन बेमेल बातों से आजकल कोई विरला ही बच पाता है। अस्तु, मुझे संतोष है कि मुझ पर अपनी नीति के विरुद्ध कोई विज्ञापन प्रकाशित करने के लिए दबाव नहीं डाला गया, यद्यपि इससे आर्थिक क्षति काफी रही।

'प्रेम' का प्रचार—मेरे सम्पादन से पहले जब 'प्रेम' बन्द हुआ था, तो उसके ग्राहकों की संख्या सौ से भी कम रह गयी थी। मेरा समय राष्ट्रीय आन्दोलन का था, और पत्र में सामयिक विषयों की सामग्री दी जाती थी. इससे उसका प्रचार बढ़ना स्वाभाविक था। अस्तु, तुलनात्मक दृष्टि से उसका घाटा कम होता रहा। परन्तु दूसरे वर्ष में भी, जब कि वह कुल मिलाकर डेढ़ हजार छपने लग गया था, उसे स्वावलम्बी बनाने का विचार आदर्श मात्र रहा। पीछे तो मेरा उससे अलग होने का ही अवसर आ गया। विद्यालय के अधिकारियों को यही संतोष हो सका कि उसका प्रचार क्रमशः बढ़ता रहा और वह संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी जिलों, और खासकर मथुरा जिले की एक राष्ट्रीय शक्ति रहा।

पत्र-पत्रिकाओं सम्बन्धी कुछ विषयों पर मेरे विचार आगे दिये जाते हैं।

पत्र पत्रिकाओं की कुछ विचारणीय बातें; तू-तू मैं-मैं—ऊँचे आसन पर बैठकर मनुष्य का स्वभाव पूरे तौर से नहीं बदल जाता।

बहुधा उसके पुराने संस्कार बने रहते हैं। साहित्य-देवता के दरबार में पहुँच कर, उसके पुजारी का पार्ट अदा करते हुए भी हम अपने पुराने दोषों से छुटकारा नहीं पाते। अन्यथा साहित्य-कार्य से अन्य बंधुओं का न सही, हमारा तो यथेष्ट उत्थान अवश्य ही हो। परन्तु यह कहाँ होता है! कितने ही पत्रों में कैसी दुखदायी तू-तू मैं-मैं बनी रहती है। गाली-गलौच की हमारी आदत पड़ गया है। कलम का धंधा करने से हमने यह योग्यता प्राप्त कर ली है कि इस कृत्य की गन्दगी को नग्न रूप से सामने न आने दें। दूसरों को जूते मारने से हम बाज नहीं आ सकते; सभ्यता का विचार करके उन्हें हाथ में लेते समय कपड़े में लपेट लेते हैं।

आकार की दिखावटी वृद्धि—विज्ञापनों से पत्र-पत्रिकाओं को कलेवर-वृद्धि का लाभ अनायास हो मिल जाता है। वे भारी भरकम तो हो ही जाते हैं, पर अब तो इस बात का भी प्रयत्न किया जाता है कि उनके पृष्ठों की अंकित संख्या अधिक से अधिक हो जाए। इसलिए दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में ही नहीं, मासिक पत्रिकाओं तक में विज्ञापन पाठ्य-विषय के साथ, पाठ्य-सामग्री के बीच में, दिये जाते हैं। पहले ऐसा विचार रहता था कि जहाँ एक लेख समाप्त होने पर पृष्ठ में जगह शेष रहती थी, वहाँ कोई विज्ञापन दिया जाए। क्रमशः यह देखने में आया कि दाँयें पृष्ठ में पाठ्य-विषय है, तो उसके दूसरी ओर पूरा पृष्ठ विज्ञापन का है, और उस पर भी (आगे की) पृष्ठ संख्या अङ्कित है। अब तो एक सीढ़ी और आगे बढ़ गयी है। दायें पृष्ठ पर लेख समाप्त हो गया है, और आगे के दोनों पृष्ठ विज्ञापनों से भरे हैं, तो भी वे सिल-सिले की संख्या से विभूषित हैं। जैसे भी बने, अन्तिम पृष्ठ पर अधिक से अधिक संख्या अंकित हो।

पत्रों को सचित्र करने का शौक—पत्र-पत्रिकाओं को सचित्र कहलाने का भी विलक्षण रोग लगा हुआ है; मानो अचित्र रहना कोई दोष है। कितने ही पत्र केवल कवर पर चित्र रखते हुए ही

अपने आपको सचित्र घोषित करते हैं; कितने ही ऐसे हैं, जो कभी-कभी महिने दो महिने में चित्र छापने से भी सचित्र पद के अधिकारी बन बैठते हैं। बहुतों के लिए यह कोई विचारणीय बात नहीं कि चित्र कैसा है, स्त्रियों के शृङ्गारमय चित्र देना ही सब से सरल मार्ग है। यदि लेखों के चयन में कुछ माथा-पच्ची करना आवश्यक समझा जाता है तो क्या चित्रों की छाँट कुछ आवश्यक नहीं है ? क्या उद्देश्यहीन चित्र देने की अपेक्षा अचित्र रहना ही अच्छा नहीं है ? क्या स्वस्थ-सुन्दर बालकों के, सुडौल स्वस्थ पुरुषों के, प्राकृतिक दृश्यों के, प्राचीन या नवीन विशेष शिक्षाप्रद घटनाओं के अनेक चित्र नहीं दिये जा सकते ? और जो इस प्रकार के सार्थक संजीवनी-शक्ति-प्रदायक चित्र नहीं दे सकते, उनके अचित्र रहने में क्या दोष है !

सम्पादक का आदर्श—इस विषय पर लिखते हुए मैंने २ अक्तूबर के 'स्वदेश' विजयांक (गोरखपुर) में प्रकाशित लेख के अन्त में कहा था—'फिर विजयी सम्पादक कौन ? यह तो अपना-अपना विचार है। हम श्रद्धा-पूर्वक उस महात्मा पुरुष के सामने नत-मस्तक होंगे जिसके द्वारा सम्पादित पत्र के चाहे ग्राहक, विज्ञापन आदि अधिक न हों, जिसका पत्र चाहे बिना चित्र हो क्यों न हो, और आकार-प्रकार में भी चाहे बहुत क्षीण सा ही हो, पर जो व्यक्ति अपने सुनिश्चित सिद्धान्त और आदर्श की रक्षा के लिए अपने विविध सुखों को न्योछावर कर देता है, जो दीन दुखी भाइयों की सुध लेता है, चाहे ऐसा करने में उसे स्वयं ही दीन-दुखी क्यों न बनना पड़े। लक्ष्मी जिसके लिए कोई प्रलोभन नहीं; धर्म, समाज या राज्य के सत्ताधारी, महन्त, पंच या अहलकारों की धमकियों का जिसको कोई भय नहीं—ऐसे सम्पादक को हम विजयी सम्पादक कहेंगे और उसके लिए हमारे हृदयासन पर स्थान होगा। उसकी एक-एक पंक्ति तथा एक-एक अक्षर ऐसा बहुमूल्य है कि उसे खरीदने का किसी में साहस या सामर्थ्य नहीं।

परमात्मा करे ऐसे विजयी सम्पादकों की संख्या यथेष्ट हो और गत-वैभव भारत का, नहीं नहीं, संसार के मनुष्यत्व का उद्धार हो ?'

कुछ सज्जनों के सम्बन्ध में; श्रीगोविन्द जी हयारण—आरम्भ में 'प्रेम' का कार्यालय-सम्बन्धी कार्य भी मैं ही करता था। कार्य बढ़ने पर पहले साधारण योग्यता के एक स्थानीय व्यक्ति से ही काम लिया गया। पीछे कुछ विशेष योग्यता वाले सज्जन की आवश्यकता प्रतीत हुई। प्रार्थियों में एक श्रीगोविंद जी हयारण भी थे। इनके सम्बन्ध में यह विशेषता थी कि ये समय-समय पर 'प्रेम' के लिए कुछ सम्वाद (तथा कभी-कभी कविताएँ भी) भेजा करते थे। स्वभावतः मैंने उनके प्रार्थना-पत्र के पक्ष में मत दिया और मेनेजर साहब ने उनकी नियुक्ति कर दी। श्रीगोविन्द जी अब 'प्रेम' के सम्वाददाता से सहकारी कार्यकर्ता हो गये। प्रारम्भ में वह मुझे हिसाब-किताब रखने, और प्रूफ देखने में सहायता देते थे। क्रमशः वह आये हुए सम्वादों को ठीक करने और समाचार छांटने का कार्य करने लगे। स्थानीय संवाद भी वही लाने लग गये। वे सब कार्य उत्साह और लगन से करते थे, और जिज्ञासु या ज्ञानान्वेषी की तरह और अधिक कार्य की याचना करते रहते थे। मुझसे प्रोत्साहन पाकर वह 'प्रेम' के लिए भिन्न-भिन्न विषयों के लेख भी तैयार करने लगे। मैंने उनसे अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहा; सोचा कि आगे-पीछे कभी ऐसा प्रसंग आ सकता है कि मैं अस्वस्थ होने या कहीं बाहर रहने की दशा में 'प्रेम' का कार्य करने में असमर्थ होऊँ और श्रीगोविन्द जी को ही सब कार्य करना पड़े। अतः अच्छा हो, इसके लिए उनकी समुचित तैयारी हो जाए। निदान, उन्हें क्रमशः सम्पादकीय नोट या लेख आदि लिखने का अवसर दिया गया। इससे उनका, मेरा तथा 'प्रेम' का सब का ही हित-साधन हुआ। उनका मेरा लगभग सवा साल तक साथ रहा, और उन्होंने केवल एक सम्वाददाता के रूप में यहाँ आने पर भी (उन्हें

सम्पादकीय कार्य का पहले अनुभव नहीं था) इतने थोड़े समय में 'प्रेम' सम्बन्धी विविध कार्यों को अच्छी तरह कर दिखाया !*

स्वामी आनन्दभिक्षु—'प्रेम' का काम करते हुए विद्यालय के जिन अधिकारियों से मेरा विशेष सम्बन्ध रहा, उनमें मुख्य स्वामी आनन्द-भिक्षु थे। आप स्थानीय गुरुकुल में मुख्य अधिष्ठाता श्री नारायण स्वामी जी के सहायक के रूप में सेवा करके प्रेम महाविद्यालय के आनरेरी जनरल मैनेजर, मेरे वृन्दावन आने के समय ही हुए थे। आपको उसका बहुत काम रहता था। आपको लिखने का भी शौक था ; हाँ, आप पहले खासकर उर्दू के लेखक थे। आपने 'प्रेम' का 'निरीक्षक' होना स्वीकार कर लिया था। आप समय-समय पर उसके लिए लेख-चुटकले, हास्यरस की सामग्री आदि प्रदान करने की कृपा करते थे, तथा अपनी सहधर्मणी श्रीमती कुन्ती देवी तथा अपने भतीजे हरिश्चन्द्र से भी लिखवाते थे। विशेषतया आर्य समाज के क्षेत्र में आपका काफी परिचय था, अतः समय-समय पर आप 'प्रेम' के लिए आर्यसमाजी सज्जनों के लेख भी मंगाया करते थे। क्योंकि विद्यालय का प्रेस विभाग भी आपके ही अधीन था, अतः पत्र को समय पर छपाने के लिए मुझे विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी।

बाबू नारायणदास जी—बाबू नारायण दास जी 'प्रेम' के मुद्रक तथा प्रकाशक थे। आप मथुरा जिले के पुराने प्रतिष्ठित रईस थे। वृन्दावन में बहुत समय तक आप एकमात्र सज्जन थे जो बी० ए० पास थे। इसलिए 'बाबू नारायण दास बी० ए०' कहने से आपका ही बोध होता था। आप अपने समय में मथुरा जिले के प्रमुख नेता और राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे। जिला-अधिकरी भी आपको बहुत मानते थे। प्रेम महा-विद्यालय के संस्थापक राजा महेन्द्रप्रताप के आप घनिष्ठ मित्र और परा-मर्शदाता रहे। राजा साहब से दूसरे दर्जे पर आप को ही इस संस्था

*'प्रेम' से सम्बन्ध छूटने पर उन्होंने 'भारतवीर', 'हलधर' 'दैनिक भविष्य' और 'दैनिक अर्जुन' में सम्पादकीय कार्य किया।

का प्राण माना जाता था। राजा साहब के विदेश चले जाने पर आपको भी इस संस्था के चलाने की विशेष लगन रही।

आपकी मथुरा जिले में जमींदारी थी। इसलिए आपको तथा आपके पुत्र बाबू जमुनाप्रसाद जी बी० एस० सी० वकील (मथुरा), को तहसीलदारों आदि से प्रायः काम पड़ता रहता था। 'प्रेम' में कई बार इन अधिकारियों के विरुद्ध सम्वाद प्रकाशित होते थे। उन्होंने बाबू जी से इस विषय मे कहा, पर बाबू जी ने सम्पादक के अधिकार में हस्तक्षेप करना उचित न समझा, वैसे कभी-कभी मुझे आवश्यक परामर्श देते रहे। उनका मुझसे सम्बन्ध मित्रता और बन्धुत्व का अधिक था, और उच्च पदाधिकारी का नहीं।

राजा महेन्द्रप्रताप जी—प्रेम महाविद्यालय में काम करते हुए मेरे लिए उसके संस्थापक के विषय में ज्ञान प्राप्त करना, उसके विचारों तथा कार्यों से परिचित होना स्वाभाविक ही था। 'प्रेम' के सम्पादक के नाते उनसे और भी अधिक सम्बन्ध होगया। १६ मई १९२२ ई० का उनका प्रथम पत्र जर्मनी से मिला। उसमें उन्होंने 'प्रेम' की पहुँच स्वीकार की, इसके पुनः प्रकाशन तथा उन्नति पर हर्ष प्रकट किया। साथ ही आपका एक लेख ('मनुष्य-धर्म') प्रकाशनार्थ आया। यह पत्र तथा लेख २३ जून के 'प्रेम' में प्रकाशित हुआ। आपने 'प्रेम धर्म' नामक अंगरेजी की पुस्तक भी भेजने की कृपा की, जिसका भावानुवाद 'प्रेम' में क्रमशः प्रकाशित किया गया। पश्चात् समय-समय पर आप के विचार-पत्र मिलते रहे। मैंने अपनी पुस्तकें भी आपकी सेवा में भेजी, उन की आपकी बहुत सराहना की।

'प्रेम' से अवकाश ग्रहण करने की इच्छा—'प्रेम' एक साधारण आकार का पत्र था, तथापि मेरी समस्त शक्ति और समय उसमें लगी रहती थी। जो अवकाश मिलता, वह दूसरे पत्र पत्रिकाओं के

अवलोकन में चला जाता। निदान, मुझे ग्रन्थमाला के कार्य के लिए कुछ सुविधा या समय नहीं मिल पाता था। मैंने चाहा कि अर्थशास्त्र की लेख-माला 'प्रेम' में क्रमशः देता रहूँ, और इस प्रकार कुछ दिन बाद उस विषय की पुस्तक तैयार हो जाए। परन्तु उसका क्रम न निभ सका। साधारण पाठकों को, यह गम्भीर विषय यथेष्ट रुचिकर प्रतीत न हुआ। अस्तु, नयी रचना का तैयार करना तो दरकिनार, मैं पूर्व प्रकाशित पुस्तकों का नया संस्करण करने में भी समर्थ न हुआ। धीरे धीरे मुझे यह बात अखरने लगी। अब, मुझे यह चिन्ता होने लगी कि किसी प्रकार 'प्रेम' के कार्य से अवकाश प्राप्त करना चाहिए।

———

नवाँ अध्याय

प्रेम महाविद्यालय में

'धन्य है वह व्यक्ति जो अपना जीवन ठीक अपने अनुकूल कार्य में लगा सके।'

सम्पादक से शिक्षक—'प्रेम' का सम्पादन करते समय मेरी प्रेम महाविद्यालय के मेनेजर श्री आनन्दभिक्षु से विविध विषयों पर बात-चीत होती रहती थी। इधर विद्यालय की पाठ विधि में संशोधन करने और ऊँची कक्षाओं में अर्थशास्त्र और नागरिक ज्ञान (सीविक्स) का विषय रखने का विचार हुआ। इस योजना के अनुसार मुझे 'प्रेम' विभाग से विद्यालय-विभाग में लिया जाना था। इसमें मेरी दिलचस्पी इसलिए थी कि शिक्षक बनने पर मेरे लिए काम एक निर्धारित समय का रहेगा और मैं ग्रंथमाला की ओर अधिक ध्यान दे सकूंगा।

भारतीय अर्थशास्त्र की रचना; दुबे जी का सहयोग—शिक्षक नियुक्त होने के बाद मैं क्रमशः 'भारतीय अर्थशास्त्र' का काम करने लगा। विद्यालय के विद्यार्थियों के लिए इसकी आवश्यकता थी ही। मार्च १९२३ में श्री दयाशंकर दुबे के आमंत्रण पर मैं भारतीय अर्थ-शास्त्र-परिषद की मीटिंग मे शामिल होने के लिए लखनऊ गया। मालूम हुआ कि असल में परिषद तो कुछ नहीं है, दुबे जी ही सब-कुछ हैं। आपको अर्थशास्त्र साहित्य की रुचि है, हिन्दी में इस विषय की पुस्तकें लिखी जाएँ और प्रकाशित हों, इसकी खूब धुन है; इसके लिए परिश्रम करने को, तथा दूसरों को यथेष्ट सहयोग प्रदान करने को तैयार रहते हैं। समय समय पर आपने इस कार्य के लिए कुछ द्रव्य भी व्यय किया है। आपसे मेरी प्रथम भेंट थी, आपका व्यवहार बहुत सौजन्य और स्नेह पूर्ण रहा। आपने मेरी पुस्तक की हस्तलिखित प्रति बहुत ध्यान से देखी। इस पर कई जगह विषय बढ़ाया गया अथवा

अधिक स्पष्ट किया गया। ताजी रिपोर्टों के आधार पर यथा-सम्भव नये अंक दिये गये। पारिभाषिक शब्दों की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया। हिन्दी में अब से तीस वर्ष पहले के इस कार्य का महत्व तथा इसकी कठिनाई स्पष्ट ही हैं। अस्तु, जहाँ तक भी बन आया, पुस्तक अधिक-से-अधिक उपयोगी बनायी गयी।

इस पुस्तक को छपाने के लिए दुबे जी ने अपने मित्र श्री दुलारेलाल भार्गव (गंगा पुस्तक-माला) को तैयार किया। इस व्यवस्था से मुझे यह लाभ मालूम हुआ कि एक अच्छे प्रकाशक के सहयोग से पुस्तक का प्रचार खूब होगा। इसलिए मैंने इसका पारिश्रमिक दस आने प्रति पृष्ठ ही लेना स्वीकार किया, जो अवश्य ही इसके महत्व की दृष्टि से बहुत कम था। मेरे लिए यही बहुत था कि पुस्तक जल्दी छप जाएगी और मैं इसकी चिन्ता से मुक्त रहूँगा। श्री दुलारेलाल उन दिनों खूब उत्साह और लगन से काम करते थे। उन्होंने इस पुस्तक के सम्पादन ('भाषा-संशोधन') में बहुत परिश्रम किया।

[उस समय यह पुस्तक अपने विषय की पहली ही थी। इसका अच्छा स्वागत हुआ। हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि कई गैर-सरकारी संस्थाओं की पाठ-विधि में इसे स्थान मिला। तो भी कुल मिला कर प्रचार कम ही हुआ। पहला संस्करण दस वर्ष तक पड़ा रहा। यह बात इसके पुनः प्रकाशन के लिए उत्साह दिलाने वाली न थी। आखिर, श्री दुलारेलाल ने दुबे जी के कहने से मुझे ही इसके छपाने की अनुमति दे दी।]

बिड़ला जी की सहायता—मैंने पहले राजस्व को भारतीय अर्थशास्त्र का ही एक भाग रखा था। पर उस पुस्तक के सम्पादन और प्रकाशन में विलम्ब होता देख, उसे स्वतंत्र रूप से, अलग ही छपाया गया।* ऐसी पुस्तकों के पढ़ने वाले अब भी, अधिकतर परीक्षार्थी ही

*इसके साथ ही 'भारतीय चिन्तन' भी छपायी गयी, जिसमें मेरे 'प्रेम' में प्रकाशित लेखों का संग्रह मुख्य था।

रहते हैं। उस जमाने में हिन्दी में अर्थशास्त्र की परीक्षा देने वाले भी कम ही थे। कई माह तक पुस्तक की कुछ मांग न हुई। अर्थाभाव से मेरा काम रुकने को आगया। मुझे चिन्ता होने लगी। किसी मित्र ने सुझाया कि मैं श्री घनश्यामदास बिड़ला से मिलकर सहायता प्राप्त करूं। मुझे बड़ा संकोच था। पर आवश्यकता थी। मैं आपसे देहली में मिला। आपने मेरी 'भारतीय राजस्व' (मूल्य, चौदह आने) की तीन सौ प्रतियाँ लेकर अपने खर्च से पुस्तकालयों को भिजवाना स्वीकार किया। ये प्रतियाँ खासकर मध्य-प्रान्त, बिहार और पंजाब की शिक्षा-संस्थाओं को भेजी गयीं।

भाई भवानीदयाल जी—आपका कोई बालक स्थानीय गुरुकुल में पढ़ता था। आपसे प्रथम बार मेरा १९२० में, और पीछे तो समय-समय पर मिलना हुआ। आपका कार्यक्षेत्र खासकर दक्षिण अफ्रीका था; वहाँ से भी आपका मेरा अच्छा सम्पर्क बना रहा। आप 'हिन्दी' नाम का अंग्रेजी-हिन्दी राष्ट्रीय पत्र निकालते थे, वह तथा आपकी अन्य पुस्तक-पुस्तिकाएँ तथा रिपोर्ट आदि मुझे बराबर मिलती रहीं। भारत आने पर आपने अजमेर में 'प्रवासी भवन' की स्थापना की। अपने अन्त समय में बहुत अस्वस्थ होते हुए भी, आपने 'प्रवासी' जिस लगन से निकाला, वह बहुत शिक्षाप्रद है। आपकी भाषा बहुत प्रभाव-पूर्ण और रसीली होती थी, आपकी लिखावट भी बहुत आकर्षक थी। आपसे अन्तिम बार मैं जुलाई १९४७ मे अजमेर में मिला। आप रोग-शय्या पर थे, पर आपके प्रेम और सत्कार में कमी न थी।

भावी कार्यक्रम का विचार—अक्तूबर १९२३ में विजय-दशमी के अवसर पर मैंने निश्चय किया कि पांच वर्ष और नौकरी करने पर पूरा समय एकमात्र साहित्य-कार्य में लगाया जाए। इस समय ग्रन्थ-माला के लिए तीन माह की छुट्टी लेने का विचार किया गया, पर वह अमल में नहीं आया। नवम्बर में दीवाली के अवसर पर आगामी पांच वर्ष में ये पुस्तकें लिखना तय किया—(१) भारत सन्तान (मनुष्य-

गणना), (२) सार्वभौम साम्राज्य, (३) संसार समस्याएँ (बीसवी सदी), (४) भारतीय आदर्श। ऐसी योजनाएँ पीछे भी समय-समय पर बनायी गयीं; इनसे प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप में कुछ लाभ भी हुआ। दिसम्बर में ग्रन्थ-समिति की नियमावली की रूप-रेखा बनायी, पर उसका संगठन कभी भी उचित रूप से न हो सका। ग्रन्थमाला के पत्र-व्यवहार से लेकर डाकखाने और रेल के काम तक सब-कुछ मुझे ही करना होता था। धनाभाव के कारण कोई सहायक रखने की कुछ बात ही नहीं थी। क्रमशः मैं संगठन की ओर उदासीन हो गया। संस्था बनाने और उसकी व्यवस्था करना आदि मेरी प्रकृति के अनुकूल नही है।

ग्रन्थमाला में ही पूरी शक्ति लगाने की इच्छा—खासकर भिक्षु जी से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मेरा विद्यालय की पढ़ाई के अतिरिक्त भी कुछ समय विद्यालय सम्बन्धी बातों के विचार आदि में जाता था—जैसे पाठ-विधि का संशोधन, नियमावली बनाना, रिपोर्ट लिखना, बोर्डिंग की व्यवस्था करना आदि। इससे मुझे क्रमशः असंतोष होने लगा। अपना सारा समय ग्रन्थमाला के काम में लगाने के लिए मैंने विद्यालय से त्याग-पत्र दे दिया, पर भिक्षु जी और बाबू कन्हैया-लाल ने उसे रोक दिया। सितम्बर १९२४ में मैंने ग्रन्थमाला के कार्य के लिए साढ़े चार मास की छुटी की दर्खास्त दी। पर श्री भिक्षु जी ने यह भी पसन्द न किया। फिर, अक्तूबर में, उत्तर भारत के कई स्थानों में अभूत-पूर्व बाढ़ आजाने से मैंने ही उपयुक्त योजना को स्थगित करना उचित समझा।

भारतीय निबन्ध-माला—भारतीय निबन्ध-माला का विचार बहुत समय से था। मराठी, गुजराती में अनेक निबन्ध-मालाएँ देखी थीं। यह इच्छा हुई कि हिन्दी में भी एक-एक आने के ट्रेक्ट प्रकाशित हों। तीन निबन्ध छपाये गये—(१) 'हिन्दी भाषा में अर्थशास्त्र'—यह मैंने लिखा था। (२) 'हिन्दी भाषा में राजनीति'—यह 'प्रेम'-सपादक श्री देवीप्रसाद सकसेना ने लिखा था। यह योजना थी कि विविध लेखकों

द्वारा हिन्दी साहित्य के एक-एक अंग का परिचय प्रस्तुत किया जाए। (३) 'हमारा प्राचीन आदर्श'—यह स्वामी आनन्दभिक्षु जी ने एक मनोहर वार्तालाप के रूप में लिखा था। इन निबन्धों के प्रचार की व्यवस्था न हो सकने से निबन्ध-माला का कार्य आगे न बढ़ा।

ग्रन्थमाला का दशाब्दी-उत्सव—ता० १८ और १६ फरवरी १६२५ में श्री दयानन्द जन्म शताब्दी महोत्सव के अवसर पर ग्रन्थमाला का दशाब्दी-उत्सव मनाया गया। इसकी व्यवस्था खासकर श्री स्वामी आनन्दभिक्षु ने की। श्री देवीप्रसाद सकसेना ने भी इसके लिए खूब परिश्रम किया। शताब्दी महोत्सव के प्रधान श्री नारायण स्वामी ने अपने महोत्सव के प्रोग्राम में इसकी सूचना प्रकाशित करने तथा इसके लिए पंडाल आदि देने की कृपा की। प्रथम दिन सभापति थे श्री भाई परमानन्द जी, और स्वागताध्यक्ष थे श्री स्वामी आनन्दभिक्षु जी। इन दोनों के अतिरिक्त श्री विष्णुभास्कर केलकर एम० ए०, एल० टी० का भी साहित्य सम्बन्धी भाषण हुआ। रिपोर्ट में बताया गया कि यह कार्य किस प्रकार आरम्भ किया गया तथा उसकी क्या प्रगति हुई।

दूसरे दिन सभापति थे मेरठ निवासी श्री घासीराम जी एम० ए०। स्वागत उपाध्यक्ष श्री शिवनरायण शुक्ल बी० ए०, एल० एल० बी० के बाद आप का भाषण हुआ। पीछे सर्वश्री चान्दकरण जी शारदा, राधामोहन गोकुल जी, बनारसीदास जी चतुर्वेदी तथा गोस्वामी छबीलेलाल जी के भाषण हुए। इन महानुभावों ने विविध साहित्यिक प्रश्नों पर प्रकाश डाला तथा इस ग्रन्थमाला के कार्य की सराहना की। इस प्रकार यह साहित्योत्सव अच्छी तरह सम्पन्न हुआ, और इसके बाद भी कुछ समय ग्रन्थमाला का खासा प्रचार हुआ।

भिक्षु जी की भावना—अपनी सहधर्मणी श्रीमति कुन्ती देवी के स्वर्गवास (जुलाई १६२५) के बाद भिक्षु जी बहुत शोक में रहते थे। यह विचार हुआ कि वे कुन्ती देवी का जीवनचरित लिखने में लग जायँ; इससे उनका शोक कम होगा और बालिकाओं और महिलाओं के

लिए एक उपयोगी पुस्तक तैयार हो जाएगी। आखिर यह निश्चय हुआ कि वे सामग्री दें, और मैं पुस्तक लिखूँ। मेरी कल्पना सवा सौ डेढ़ सौ पृष्ठ की पुस्तक लिखने की थी। पर स्वामी जी सामग्री देते ही चले गये। मैंने बहुत काट-छांट की; तो भी वह अधिक ही रही। फिर, स्वामी जी इस पुस्तक में देवी जी के लेख भी दे रहे थे, और सम्पादन के निमित्त से उनका आकार बहुत बढ़ाते जाते थे। यह मुझे पसन्द न था। आखिर, जैसे तैसे 'वानब्रह्मचारणी कुन्ती देवी' पुस्तक का काम निपटा। स्वामी जी ने इसे खूब सजधज से छपाया। यहाँ तक कि आर्ट पेपर पर इसका एक राजसंस्करण भी छपा। इसके सामने माला की अन्य पुस्तकों का 'गेटअप' (रूप-रङ्ग) फीका पड़ गया; पर इसका कुछ उपाय न था।

मेरे अनुरोध से स्वामी जी ने 'भावना' नाम की एक पुस्तक तैयार की। पर इसमें कई अंश ऐसे थे, जिनमें स्वामी जी के व्यक्तिगत, और श्री कुन्ती देवी सम्बन्धी भाव थे। मुझे यह ठीक न लगा। मेरे कहने से उन पर कलम चलायी गयी, तो भी उनकी कुछ छाया तो बनी ही रही। अस्तु, कुल मिलाकर पुस्तक अच्छी थी, और इसका खासा स्वागत हुआ।

निर्वाचन नियम—प्रेम महाविद्यालय की मई-जून १९२६ की छुट्टियों में मैं दुबे जी के पास लखनऊ आया। यहाँ 'भारतीय शासन' का संशोधन करते समय मेरे मन में यह विचार आया कि लोकतंत्री शासन में निर्वाचन का बड़ा महत्व है। इसलिए अच्छा हो, जनता की राजनैतिक शिक्षा के लिए एक ऐसी पुस्तक की रचना की जाय, जिसमें इस विषय का स्वतंत्र रूप से, सविस्तर वर्णन हो, जिससे यह ज्ञात हो कि व्यवस्थापक सभाओं, म्युनिसपेलटियों, और जिला-बोर्डों के सदस्यों के चुनाव के नियम क्या हैं, और कैसे होने चाहिएँ, निर्वाचकों को किन-किन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। अगले वर्ष भारतीय व्यवस्थापक सभा तथा प्रान्तीय व्यवस्थापक परिषदों सम्बन्धी निर्वाचन होनेवाला था। इससे भी उपर्युक्त

पुस्तक-रचना के विचार की पुष्टि हुई। निदान, दुबे जी के सहयोग से 'निर्वाचन नियम' पुस्तक तैयार की गयी; फिर, जल्दी ही इसे प्रकाशित भी कर दिया गया। उस समय यह हिन्दी में अपने विषय की सर्वप्रथम और एकमात्र पुस्तक थी। सम्पादकों एवं अन्य सज्जनों द्वारा इसकी अच्छी प्रशंसा हुई, पर हम इसका विशेष प्रचार न कर सके। पहला संस्करण बारह वर्ष पड़ा रहा। [पीछे, सन् १६३८ में इसका विषय काफी बदल कर तथा इसका नाम 'निर्वाचन पद्धति' करके प्रकाशित किया गया। उसका खासा प्रचार हुआ।]

पारिभाषिक शब्द; श्री अम्बष्ट का सहयोग—कुछ समय से राजनीति और अर्थशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों की ओर मेरा ध्यान अधिक जा रहा था। अपनी रचनाओं के लिए मुझे इनकी जरूरत पड़ती ही थी। आखिर, भारतीय शासन के पाँचवें संस्करण में पारिभाषिक शब्दों की हिन्दी-अंगरेजी सूची कुछ विस्तार से देने और उसे अंगरेजी-हिन्दी शब्दों के साथ अलग पुस्तक-रूप से भी छपाने का निश्चय किया। इस प्रकार सन् १६२७ में बहुत संकोच से 'राजनीति शब्दावली' प्रस्तुत की गयी, और आगे इस विषय की सामग्री संग्रह की जाने लगी।

पीछे सन् १६३३ में श्री दुबे जी और श्री गदाधरप्रसाद अम्बष्ट के साथ 'अर्थशास्त्र कोष' का काम किया गया। वह कार्य बहुत बड़े पैमाने का था, उसके लिए बहुत साधनों की जरूरत थी। उनका अभाव रहा। कोई प्रकाशक भी न मिल सका। लाचार 'अर्थशास्त्र शब्दावली, छपा कर संतोष किया गया। इसी सिलसिले में अम्बष्ट जी ने मुझे 'राजनीति शब्दावली' के संशोधन में बहुत सहायता दी। उसके अगले संस्करण हम दोनों के नाम से प्रकाशित हुए।

'कर्मवीर'-परिवार; श्री माखनलाल चतुर्वेदी—हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं में, कर्मवीर' (खंडवा) पहला पत्र था जिसने मेरी राजनैतिक और आर्थिक विषयों की पुस्तकों की विस्तृत समालोचनाएँ प्रकाशित कीं। इसके सम्पादक श्री माखनलाल चतुर्वेदी के प्रति मेरा आकर्षण

होना स्वाभाविक था। फिर, आप अच्छे लेखक, कवि और वक्ता थे। बातचीत में भी आप बहुत भाव-पूर्ण और उच्च विचार देते थे। उन दिनों आपके खास सहायक श्री आगरकर और विनय-मोहन जी थे। सब का मेरे प्रति बहुत स्नेह था। पीछे यह परिवार बँट गया; इसके बँटने का ढंग मुझे बहुत कष्टदायी प्रतीत हुआ।

श्री सिद्धनाथमाधव आगरकर—श्री आगरकर जी 'कर्मवीर' से जुदा हुए तो साधनहीन थे। तो भी आपने खंडवा से ही दूसरे साप्ताहिक ('स्वराज्य') का आयोजन किया। आपको अपनी निर्धनता का भी गर्व था, स्वाभिमान था, दीनता आपके पास नहीं फटकती थी। आप मुझसे विशेष स्नेह इसलिए करते थे कि मैं जिन विषयों पर लिखता था, उनकी उस समय तक उपेक्षा हुई थी, और उनमें से कई विषय स्वयं आगरकर जी को बहुत पसन्द थे, यद्यपि आप अवकाश का अभाव होने के कारण उन पर पुस्तक रूप में अपने विचार प्रस्तुत नहीं कर पाते थे। आपका नियमित जीवन, सरल निष्कपट व्यवहार, सादा रहन-सहन, काम की धुन, लोकसेवा की भावना आदि गुण मुझे बहुत ही आकर्षक प्रतीत हुए।

श्री विनयमोहन शर्मा—'कर्मवीर' में मेरी पुस्तकों की समा-लोचना बहुधा आप ही करते थे। यह बात मुझे शुरू में मालूम नहीं हुई। यहाँ तक कि 'कर्मवीर' कार्यालय में जाकर भी पहले मैंने आपको तिवारी जी के ही नाम से जाना। धीरे-धीरे परिचय हुआ, स्नेह-भाव बढ़ा। आपका सरल स्वभाव कितना अच्छा लगा! अनेक बार आप से मिलने और बातचीत करने का प्रसंग आया, हृदय का हृदय से सम्पर्क होता मालूम हुआ। आपने मेरी 'विश्व वेदना' और 'नागरिक शास्त्र' की भूमिका लिखी। मेरे साहित्यिक जीवन के प्रति आपकी बड़ी श्रद्धा रही। इस पुस्तक की रचना के प्रसंग में भी मैंने आपके परामर्श से बहुत लाभ उठाया है।

स्वामी आनन्दभिक्षु जी का सत्संग—प्रेम-महाविद्यालय में

श्री स्वामी जी से मेरा सम्बन्ध क्रमशः बढ़ता गया। कुछ समय मैं विद्यालय के मकान में आपके पास के ही हिस्से में सपरिवार रहा। अनेक बार सबेरे या शाम को मुझे आपके साथ जमुना तट पर तथा अन्यत्र घूमने का अवसर मिला। आपके साथ मथुरा जिले में तथा बाहर पंजाब आदि की यात्रा भी हुई। एक यात्रा में मैं स्वामी जी को अपने गाँव बाबैल भी ले गया, वहाँ आपने लोगों को उचित उपदेश दिया। आपका भाषण ऐसी श्रद्धा से सुना गया जैसी शहरी श्रोताओं में बहुत कम पायी जाती है।

स्वामी जी के कई विषयों के विचार मुझे बहुत अच्छे लगे। उपनिषदों और गीता को पढ़ने की मेरी रुचि बढ़ी। सादगी की ओर मेरा झुकाव पहले से था, अब मैं अपनी जरूरतों को और भी कम करने की ओर ध्यान देने लगा।

वानप्रस्थ आश्रम का विचार—इस समय स्वामी जी का सत्संग तो था ही; महात्मा गांधी के ये विचार भी चारों ओर गूंज रहे थे—गुलाम देश में सन्तान पैदा करना पाप है, देश की आजादी के लिए हमें हंसते-हंसते मरने को तैयार रहना चाहिए, मृत्यु का शोक या भय क्यों, ब्रह्मचर्य की महिमा समझो, इत्यदि। क्रमशः वानप्रस्थ आश्रम की उपयोगिता की ओर मेरा ध्यान गया, और उसकी तैयारी करने की सोचने लगा; समय समय पर यह निश्चय किया कि संयम का जीवन व्यतीत किया जाए, सन्तानोत्पत्ति न हो। फरवरी १९२३ में छः माह के संयम का विचार किया। १९ मई को मैंने डायरी में यह नोट किया—

"भगवान्! मेरी इच्छा है कि मैं ४५ वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ और ५५ वर्ष की अवस्था में संन्यास ग्रहण करूँ, अपना जीवन भारत-माता की सेवा में अधिकाधिक लगाऊँ। अतः अबसे सन्तान की कामना न रखूं और भोग में अपनी शक्ति व्यय न करके भावी बन्धनों से बचूं। परमात्मा! आप मेरा संकल्प पूरा करें। मुझे तेज दें, बल दें, बुद्धि दें; और इनके सदुपयोग की शक्ति दें।"

"**नोट**—(१) इस समय मेरी आयु ३२ साल ७ मास की है। (२) यदि आर्थिक सुविधाएँ हों तो वानप्रस्थ और जल्दी ग्रहण किया जाए।"

यह निश्चय करते समय मेरे एक पुत्र था—प्रेमनारायण। उसका जन्म ता० २ अगस्त १६२० को हुआ था, इस प्रकार वह उस समय तीन साल से कम का था। मेरे दूसरे पुत्र (ओमप्रकाश) का जन्म उपर्युक्त निश्चय के सात मास बाद २८ जनवरी १६२४ को हुआ। पीछे, एक कन्या (शान्ति) और एक पुत्र (प्रमोदप्रकाश) और हुआ। स्पष्ट है कि पूर्वोक्त निश्चय पूरा नहीं हुआ, तथापि इसका मन पर अच्छा प्रभाव पड़ा, यह मानना होगा।

प्रेम महाविद्यालय से अवकाश—मैं विद्यालय में बहुत-कुछ स्वाधीनता का अनुभव करता रहा था, अधिकारियों का भाव प्रायः समता और प्रेम-पूर्ण रहता था। पर जुलाई १६२६ में श्री गिडवानी यहां प्रिंसीपल होकर आये तो मुझे प्रबन्ध में कठोरता और निरसता प्रतीत होने लगी। क्रमशः मेरा मन विद्यालय से ऊब गया। साथ ही अपनी सब शक्ति को साहित्य कार्य में लगाने की मेरी इच्छा अधिकाधिक प्रबल होती गयी। इधर सन् १६२७ में नये परिवर्तनों के वास्ते विद्यालय के स्टाफ में कुछ कमी करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। निदान, १४ सितम्बर १६२७ में अन्य कई अध्यापकों सहित मुझे विद्यालय से अवकाश मिल गया।

मेरे कई मित्रों तथा हितैषियों की दृष्टि में यह मेरे लिए एक अशुभ समाचार था, पर स्वयं मेरी दृष्टि में तो यह मेरे वास्ते एक चिर अपेक्षित दैवी देन थी। मेरे लिए उस तरह का जीवन व्यतीत करने का अवसर आगया था, जिसकी मैं बहुत समय से प्रतीक्षा कर रहा था; हाँ, यह चिन्ता भी थी कि अब तक तो मैं एक बने-बनाये रास्ते पर चलता जा रहा था, अब रास्ता बनाना पड़ेगा। नये जीवन के स्वागत के लिए हृदय उमड़ रहा था, पर पुराने वातावरण का मोह भी विलुप्त नहीं हुआ

था। जब किसी बालक को नये कपड़े पहराने के लिए उसके पुराने वस्त्र उतारे जाते हैं तो बहुधा वह पुराने वस्त्र को छोड़ने में कष्ट का अनुभव करता है, कुछ वैसी ही दशा मेरी थी।

इस अवसर पर मेरी पत्नी ने बहुत धैर्य और साहस दिखाया ! उन्होंने कहा—'विद्यालय की नौकरी छूट गयी तो कोई चिन्ता नहीं; परमात्मा सब को देता है। हमें जो कुछ मिलेगा उसी में हम संतोष करेंगे।' इन बातों से मुझे बहुत राहत मिली। पर उनकी यह भावना कुछ स्थिर न रही। कुछ समय बाद उन्हें मेरी आर्थिक स्थिति से असंतोष होने लगा और वह प्रायः बना ही रहा। अनुकूल वातावरण न मिलने से वे सामाजिक सुधार और मितव्ययिता में आगे न बढ़ सकीं। अपनी आवश्यकताएँ पूरी न कर सकने से उनको जीवन में कुछ सुख-शान्ति न मिली।

विशेष वक्तव्य—पहले कहा गया है कि अक्तूबर सन् १९२६ में मैंने यह निश्चय किया था (नोट बुक में लिखा था) कि पांच वर्ष नौकरी करके पूरा समय ग्रंथमाला के काम में लगाया जाए। आर्थिक परिस्थिति की उपेक्षा करके बीच में ही विद्यालय छोड़ने का इरादा किया था, पर वह विचार पार न पड़ा। अब स्वयं ही उसका अवसर आ गया था। विशेष बात यह थी कि यह कार्य पांच वर्ष के बजाय चार वर्ष के ही भीतर हो रहा था। परमात्मा के ढङ्ग विचित्र होते हैं; यदि हम किसी विषय की दृढ़ और सच्ची इच्छा करते हैं तो उसकी पूर्ति का कोई न कोई उपाय निकल ही आता है।

———

दसवाँ अध्याय

अभीष्ट मार्ग पर

अकेला चल रे।
अगर तेरी पुकार पर कोई तेरे साथ न आए,
तब भी, तू अकेला चल रे!
गहन डगर पर तुझे अकेले छोड़ें साथी सहचर,
और न आगे जाने को तैयार हों जीवन-पथ पर,
रक्त रंगे चरणों के पथ के कांटे मसल अकेले,
तू एकाकी चल रे!
रात अंधेरी, घटाटोप हो, यदि ओ निपट अभागे!
द्वार बन्द हों, दिये बुझे हों; राह न सूझे आगे,
बज्रानल! निज अस्थि-ज्योति ले बढ़ चल अचल अकेले,
तू एकाकी चल रे!

—रवीन्द्रनाथ

नयी परिस्थिति; प्रारम्भिक कार्य—बहुत प्रतीक्षा के बाद अब यह परिस्थिति आयी, जब मुझे एकमात्र ग्रन्थमाला का ही काम था। भिक्षु जी आदि कुछ मित्रों की सलाह थी कि मैं प्रेस करलूँ, जिससे पुस्तकें छपाने की सुविधा हो तथा कुछ आमदनी भी हो। प्रेस के लिए मुझे रुपया मिल सकता था। पर मैं अपनी शक्ति को कई कामों में बाँटना नहीं चाहता था; मुझे प्रेस करने की बात नहीं जची। मैंने लेखन-कार्य की ओर ध्यान रखा।

मेरी 'भारतीय शासन' पुस्तक देखकर कुछ सज्जनों ने मुझे अन्य देशों की शासन-पद्धति लिखने को कहा था। कई वर्ष बाद अब दुबे जी के सहयोग से मैंने 'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' तैयार की।

सन् १९२८ में मैंने साधारण योग्यता के पाठकों के लिए एक तो 'सरल भारतीय शासन' तैयार की जो भारतीय शासन का छोटा संस्करण थी; दूसरी पुस्तक 'नागरिक शिक्षा' लिखी, इसमें राज्य के विविध कार्यों और विभागो का परिचय था। प्रेम महाविद्यालय के तत्कालीन प्रिंसीपल, आचार्य जुगलकिशोर जी से इसके सम्बन्ध में उपयोगी परामर्श मिला।

'नागरिक शास्त्र' को ठीक करके अगले वर्ष हिन्दुस्तानी एकेडेमी के पास इसे प्रकाशित करने का विचार करने के लिए भेजा। ऐकेडेमी उन दिनों बड़े उपाधिधारियों के बड़े-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन कर रही थी, शायद इसी लिए उसे यह पुस्तक कुछ न जची। बहुत समय तक प्रतीक्षा करने पर यह पुस्तक वहाँ से वापिस आयी। [पीछे इसका प्रकाशन इन्दौर की मध्यभारत हिन्दी-साहित्य समिति द्वारा हुआ।]

आर्थिक चिन्ता—यद्यपि मैं अपनी धुन में चला जा रहा था, आर्थिक परिस्थिति प्रतिकूल ही थी। सन् १९२८ २९ में नागरिक शिक्षा, सरल भारतीय शासन, ब्रिटिश साम्राज्य शासन, तथा भारतीय शासन (छटा संस्करण) छपाली गयी थीं। और, श्रद्धाञ्जलि, नागरिक शास्त्र, तथा भारतीय नागरिक छपाने का था। विगत छः वर्ष से मेरी अधिकांश पुस्तकें जमुना प्रेस, मथुरा, में छपती थीं। इस प्रेस के स्वामी पंडित जगन्नाथ जी बी० ए० एल० एल० बी० का व्यवहार बड़ा सौजन्य-पूर्ण था। प्रेस का कार्य उनके बड़े लड़के त्रिलोकीनाथ जी देखते थे। क्रमशः उनसे घनिष्ठता हो गयी। प्रेस के बिल लगभग एक हजार के रुपये के हो चले थे, पर उनका कोई तकाजा न था। हाँ, इससे मेरी आर्थिक चिन्ता कम न हुई, उलटा मैं रुपया चुकाने की अपनी जिम्मेदारी को अब और अधिक अनुभव करता था।

ग्रन्थमाला का प्रचार—आर्थिक कठिनाई दूर करने के लिए विशेष यात्रा जून १९२९ में हुई। बम्बई में 'माहेश्वरी'-सम्पादक श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा ने मुझे माहेश्वरी समाज के कुछ व्यक्तियों

से मिलाया। श्री गिरधरदास बांगड़ और कन्हैयालाल जी कलन्त्री ने भी मुझे कुछ सज्जनों से मिलाने की कृपा की। इस प्रकार यहाँ पाँच सौ रुपये से अधिक की सहायता मिला। यहाँ पंडित निरंजन शर्मा सम्पादक 'श्री वेंकटेश्वर-समाचार', सतीशदास मूँधड़ा सम्पादक 'प्रणवीर', और नाथुराम जी प्रेमी संचालक हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, से समय-समय पर मिलना होता रहा। बम्बई से पूना और खंडवा होकर मैं इन्दौर आया। यहाँ श्री शिवचन्द इनाणी, हेडमास्टर, इंगलिश स्कूल बहुत उत्साही सामाजिक कार्यकर्ता और सुधारक थे। आपने ग्रन्थमाला के प्रचार के लिए बहुत प्रयत्न किया और मुझे कई सज्जनों से मिलाया। श्री रामनिवास साबू (मंत्री, माहेश्वरी विद्यालय) ने दो सौ रुपये की सहायता दी। अस्तु, इस यात्रा में प्राप्त धन से प्रेस का ऋण प्रायः चुक गया, और मेरी चिन्ता कम हुई।

श्री अम्बिकाप्रसाद त्रिपाठी और डाक्टर सरयूप्रसाद—कुछ समय से मध्यभारत हिंदी साहित्य समिति, इन्दौर, से 'वीणा' मासिक पत्रिका प्रकाशित होने लगी थी। उसके सम्पादक श्री अम्बिका-प्रसाद त्रिपाठी से मेरा सम्पर्क हो गया था। आपने समिति के विचारार्थ मेरी पुस्तकें मंगायी। समिति से मुझे ७५) पारितोषिक मिला। त्रिपाठी जी बहुत सरल चित्त, स्वाभिमानी और संतोषी थे। आप राज्य के अधिकारियों से बहुत कम मिलते-जुलते थे। उपर्युक्त यात्रा के समय मुझे डाक्टर सरयू प्रसाद से आपने ही मिलाया।

डाक्टर साहब हिन्दी के बहुत ही प्रेमी और प्रचारक थे। आपको उस समय की मध्य भारत की जनता का सर्वमान्य प्रतिष्ठित प्रतिनिधि कहा जा सकता है। मेरा साधारण परिचय पाकर भी आपने मेरे प्रति बहुत स्नेह और सत्कार-भाव सूचित किया। समिति और उसका विशाल भवन आपकी लोकोपकारी यादगार हैं।

इन्दौर के प्रधान मन्त्री से भेंट; नौकरी अस्वीकार—श्री इनाणी के साथ मैं इंदौर राज्य के प्रधान मंत्री श्री सिरेमल बापना

से भी मिला था। आप राज्य के स्कूलों में पढाये जाने के लिए कुछ धार्मिक पाठ्य पुस्तकें तैयार कराना चाहते थे, और इस कार्य में सहयोग देने के लिए आपने मेरे इन्दौर रहने की इच्छा प्रकट की। यदि मैं यह कार्य स्वीकार न करूँ तो मुझे इन्दौर में रहने पर अन्य साधारण सा कार्य दिया जा सकता था, जिसके लिए मुझे नियमित रूप से वृत्ति मिलती। अपनी आर्थिक स्थिति को देखते मेरी इच्छा इस प्रस्ताव को स्वीकार करने की हुई, पर साहित्य कार्य की धुन में मैं आप से यह कह कर चला आया कि इस सम्बन्ध में पीछे विचार करके लिखूंगा। वृन्दा-बन आने पर मुझे ज्ञात हुआ कि श्री अम्बिकाप्रसाद जी त्रिपाठी का देहान्त होगया, और अगर मैं चाहूँ तो मुझे 'वीणा' का सम्पादन-कार्य दिया जा सकता है। परन्तु कुछ सोचा-विचारी के बाद अन्ततः मुझे नौकरी करना और एक देशी राज्य में रहना ठीक न जचा और और मैंने उपर्युक्त प्रस्तावों में से कोई भी स्वीकार न किया। पीछे प्रधान मन्त्री जी ने ग्रंथमाला के लिए सौ रुपये देने की कृपा की।

आकाश वृत्ति—अपने उत्साह और भावना के बल पर मैंने एक मात्र साहित्य-कार्य करने का निश्चय किया था। मेरी इच्छा थी कि बरा-बर इसी रास्ते चलता रहूँ। परन्तु वस्तु स्थिति यह थी कि न तो अपने रोजमर्रा के खर्च के लिए ही कुछ द्रव्य था, और न पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए जमा-पूंजी थी। पुस्तकों की बिक्री से कुछ विशेष आय होने की आशा भी नहीं की गयी थी। कुछ सज्जनों से समय-समय पर सहायता अवश्य मिली। परन्तु आवश्यक खर्च की दृष्टि से वह बहुत ही कम थी। फिर सहायता तो कभी-कभी ही मिलती, खर्च तो हर माह बना रहता। और, जब प्राप्त सहायता से कोई पुस्तक छपाली गयी, या उसे प्रेस का ऋण चुकाने में खर्च कर दिया तो फिर हाथ खाली का खाली ही रह जाता था। यह भरोसा न था कि अगले माह के लिए कुछ व्यवस्था होगी या नहीं। ऐसी दशा में यदि कुछ भी आय होने लगे तो कितना अच्छा हो, पर हो कैसे!

जाजू जी को ग्रन्थमाला की चिन्ता; श्री जमुनालाल बजाज की सहायता—ग्रंथमाला की जिन सज्जनों को बहुत चिन्ता रही है, उनमें श्रद्धेय श्रीकृष्णदास जाजू का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आप शान्त प्रकृति के तथा मौन लोकसेवक रहे हैं। आप आरम्भ से ही त्याग-भाव से कार्य करते रहे, आपने धन-संचय करने का इच्छा ही नहीं रखी, और न ऐसे पद स्वीकार किये जिनसे विशेष धन-प्राप्त होता। परन्तु धन से कहीं अधिक महत्व और मूल्यवान वस्तु आपके पास बराबर रही। वह था आपका सहानुभूति-पूर्ण हृदय। दूसरे का कष्ट देखकर आप यथाशक्ति उसके निवारण का उपाय सोचते। आपका मुझ से स्नेह था और आप मेरे साहित्य-कार्य से परिचित थे। माहेश्वरी महासभा के धामणगाव अधिवेशन के बाद मैं वर्धा आया तो आपने मुझ से इस विषय में बातचीत की कि ग्रन्थमाला का कार्य कैसे चलता है, आर्थिक स्थिति कैसी है, क्या-क्या कठिनाइयाँ है। सब समाचार जानकर आपका हृदय चिन्तित हो उठा। आपका विचार हुआ कि मेरे लिए ५०) मासिक की व्यवस्था हो जाए।

आपने मेरे विषय में सेठ जमुनालाल जी से चर्चा की। सेठ जी जाजू जी को बहुत मानते थे, यहाँ तक कि अपने निर्माण में बहुत कुछ भाग उनका समझते थे। उधर, सेठ जी मुझसे भी अपरिचित न थे। तथापि आपने ग्रन्थमाला के सम्बन्ध में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त करना जरूरी समझा। यह ठीक भी था, अपना समाधान हुए बिना किसी काम में सहायता नहीं दी जानी चाहिए। अस्तु, मुझसे अच्छी तरह वार्तालाप करने के उपरान्त आपने मुझे बीस महीने, जून १९३१ तक पच्चीस रुपये मासिक की सहायता देना स्वीकार किया। [यह सहायता पीछे पन्द्रह माह के लिए और बढ़ायी गयी। इस प्रकार यह मुझे सितम्बर १९३२ तक मिली]।

वर्धा से लौटते हुए मैं आकोला, खंडवा और इन्दौर के अपने साहित्य-प्रेमी मित्रों से मिला। आकोले में, मेरे सहपाठी मित्र दयालदास

चौधरी का मेरे प्रति, तथा इस साहित्य-कार्य के प्रति बहुत स्नेह-भाव था। आपने स्वयं सहायता की और दूसरों से भी करायी, जिनमें विशेष उल्लेखनीय श्री किशनलाल जी गोयनका हैं।

माला का पंचदश-वर्षीय उत्सव—फरवरी १९३० में, जब कि स्थानीय गुरुकुल की रजत जयन्ती की तैयारी हो रही थी, इस ग्रंथमाला का पन्द्रह वर्ष का उत्सव उसी उत्सव के अवसर पर करने का विचार किया गया। सर्वश्री नारायणदास विद्यालंकार (शिक्षक, प्रेम महाविद्यालय), शंकरसहाय सकसेना (प्रोफेसर, बरेली कालिज), बृहस्पति जी वेद-शिरोमणि (आचार्य, गुरुकुल वृन्दावन) और जुगलकिशोर एम० ए० (प्रिंसीपल, प्रेम महाविद्यालय) ने हिन्दी और अंगरेजी के पत्रों में ग्रंथमाला सम्बन्धी लेख छपाये।

ग्रन्थमाला का उत्सव १८ और १९ अप्रेल १९३० को हुआ। सभापति पहले दिन महात्मा नारायण स्वामी और दूसरे दिन श्री आचार्य रामदेव जी (गुरुकुल कांगड़ी) थे। दोनों दिन स्वागताध्यक्ष थे श्री आनन्द भिक्षु जी। इन तीनों महानुभावों के अतिरिक्त और भी कई विद्वानों के भाषण तथा कविता-पाठ हुए।

'कौटल्य के आर्थिक विचार'—मई १९३० में मैंने दुबे जी के पास प्रयाग आकर कौटलीय अर्थशास्त्र से पारिभाषिक शब्द संग्रह किये तो मेरे मन में आचार्य कौटल्य के आर्थिक और राजनैतिक विचार आधुनिक पद्धति से संकलित करने की बात आयी। पीछे जून-जुलाई में मैंने बुलन्दशहर जाकर श्री जगनलाल गुप्त का सहयोग प्राप्त किया। इस प्रकार हमारी 'कौटल्य के आर्थिक विचार' पुस्तक की रचना हुई।*

---

* पहले इसी पुस्तक में आचार्य के राजस्व सम्बन्धी विचार भी देने का निश्चय किया था, पर इस विषय की कुछ बातों में गुप्त जी का और मेरा मतभेद रहा। पीछे मैंने इसे 'कौटल्य की शासनपद्धति' में लिया, जो हिन्दी साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हुई।

दुवे जी के परामर्श से इसमें आवश्यक संशोधन किया गया। इसका प्रकाशन भी इनकी सहायता से हुआ। इन दिनों इन्हें हिन्दी की रीडरें लिखने से खासी आय हुई थी; उसका अच्छा भाग इन्होंने धर्म ग्रन्थावली में तथा अर्थशास्त्र साहित्य के प्रोत्साहन या रचना में लगाया। यह होते हुए भी मुझे उनकी 'रीडरबाजी' नहीं जची।

श्री जगनलाल गुप्त—गुप्त जी पुरातत्व और प्राचीन साहित्य आदि के बहुत प्रेमी थे। उन्होंने कई खोजपूर्ण निबन्ध लिखे थे। उन्होंने कई पुस्तकों की भी रचना की थी, पर वे उनका यथेष्ट संशोधन न कर सके। उनसे मेरा समय-समय पर मिलना होता रहा; अच्छा आनन्द रहता था। पर कई वर्ष बाद 'साधना' (आगरा) से अचानक मालूम हुआ कि वे मुझसे कुछ असन्तुष्ट हैं। इस पर मैंने उनकी सेवा में एक खुलासा पत्र भेजा। बहुत समय तक उसका उत्तर न पाकर मैंने उसकी नकल 'साधना' में भेज दी। सम्पादक जी (श्री सत्येन्द्र) ने उसका मुख्य अंश (अपनी टिप्पनी सहित) अगस्त १६४१ की संख्या में प्रकाशित किया। मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य और दुख हुआ कि गुप्त जी जैसे आदमी बाहर से अच्छा प्रेममय व्यवहार दिखाते हुए भी मन में कुछ दूसरा भाव रखते हैं।

भावना-साहित्य ; 'श्रद्धांजलि' और 'विश्व-वेदना'—सन् १६३० में मेरी 'श्रद्धांजलि' पुस्तक प्रकाशित हुई। इस में कुछ देशी तथा विदेशी महापुरुषों को सम्बोधन करते हुए श्रद्धांजलि अर्पित की गयी थी। पिछले वर्षों में मैं निश्चित आजीविका के मार्ग से हटकर एक प्रकार से आकाश-वृत्ति पर चल रहा था। गृहस्थी का खर्च चलाना और पुस्तकें भी छपाना काफी कठिन था। ऐसी दशा में श्रद्धांजलि के महा-पुरुषों के जीवन-चरित्रों के स्वाध्याय से मुझे उत्साह और धैर्य मिलता रहा। इसकी भूमिका श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने लिखी थी और यह श्रद्धेय जाजू जी को, उनकी अनिच्छा होते हुए ही, समर्पित की गयी थी।

जब कि 'श्रद्धाञ्जलि' तैयार हो रही थी, मेरे मन की प्रवृत्ति कुछ सरस साहित्य रचना की ओर थी। भिक्षु जी की 'भावना' भी इसमें सहायक हुई। मेरी दृष्टि निर्धनों तथा दुखियों की ओर अधिक रही है। मेरे मन में वेदना भरी थी, पर भाव प्रकट करने में मुझे अपनी असमर्थता का विचार था। इस समय मैंने अनाथ, बच्चे, विधवा, लेखक, निर्वासित और वेश्या की संक्षिप्त रामकहानी लिख ही डाली। यह 'विश्व वेदना' सन् ३१ में प्रकाशित हुई। इन दो पुस्तकों को देख कर कई आलोचकों ने मेरा भावना-क्षेत्र में स्वागत किया। श्री विनयमोहन शर्मा ने तो विश्ववेदना की भूमिका ही लिखी थी। श्री गंगाचरण दीक्षित, (बुरहानपुर) आदि कई सज्जनों ने इन पुस्तकों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

'श्रद्धांजलि' लिखते समय मेरी इच्छा कई एक अन्य महापुरुषों के सम्बन्ध में भी लिखने की थी। उनमें से कुछ का विचार मैं अपनी नयी 'पुण्य-स्मृति' पुस्तक में करने का सोचने लगा। इसमें विशेषतया परोपकारी तथा उदार दृष्टिकोण वाले संत साधु-महात्माओं का विचार करने का आयोजन था, यथा कबीर, रामदास, रामतीर्थ, मीरा बाई, तथा कुछ ईसाई और मुसलिम सन्त आदि। 'श्रद्धाञ्जलि' मध्यम पुरुष में, सम्बोधन करके लिखी गयी थी, 'विश्व-वेदना' उत्तम पुरुष में थी; 'पुण्य स्मृति' को मैं अन्य पुरुष में लिखने की सोचता था। इस तरह की कुछ और भी रचनाएँ करने को मन हुआ था। पर वह विचार कार्य-रूप में परिणत नहीं हो पाया।

श्रद्धांजलि, और विश्व वेदना की बिक्री ऐसी न हुई, जैसी इनकी बढ़िया प्रशंसात्मक समालोचनाओं से अनुमान होता था। पुस्तकें छपने के थोड़े समय बाद तक, जबकि इनकी समालोचनाएँ छप रही थीं, कुछ विशेष मांग हुई; पीछे मामला ठंडा पड़ गया। अधिकतर पाठक मेरे कार्य को राजनीति और अर्थशास्त्र का जानते थे, और उन्हीं विषयों की

पुस्तकें मेरे पास से मिलने की आशा करते थे। अन्य प्रकार की चीजों के लिए मेरे पास आर्डर क्यों भेजते!

मासिक वृत्ति अस्वीकार—सन् १६३० के अन्त में मध्यभारत दी साहित्य समिति, इन्दौर, के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होकर, मैंने धनी नागरिकों एवं राज्य का ध्यान साहित्यिकों को आर्थिक सुविधाएँ देने की ओर आकर्षित करते हुए कहा कि यदि आरम्भ में दो-तीन साहित्य-व्रतियों को उनके निर्वाहार्थ लगभग ६०) रु० मासिक की छात्र-वृत्ति देकर रचनात्मक कार्य में जुटा दिया जाए तो कुछ ही वर्षों में हम इस दिशा में खासे अग्रसर हो सकते हैं। पीछे, श्री कीवे साहब ने, डाक्टर सरयूप्रसाद जी की सहमति से, मुझसे कहा कि आप समिति में रह कर लेखन-कार्य करो, इसके उपलक्ष्य में आपको समिति से निर्धारित मासिक वृत्ति दी जाएगी। इस प्रस्ताव में मेरे विचारों को कार्यरूप में परिणत होने का अच्छा अवसर था, पर कुछ सोच-विचार कर मैं अपने लिए इसे स्वीकार न कर सका।

साबरमति आश्रम—मई १६३१ में वृंदावन के श्री रामलाल राठी का विवाह करांची के मोहता परिवार में होने वाला था, तो खासकर साबरमति जाने और वहाँ का आश्रम देखने की सुविधा का विचार करके मैंने भी बारात में शामिल होना स्वीकार किया; वैसे विवाह-शादी आदि में मैं प्रायः नहीं ही जाता था। करांची नगर नयी सभ्यता का स्वागत करने में बम्बई की याद दिलाता था। ऐसी जगह देखने योग्य चीजों की क्या कमी! पर मेरी इच्छा मनुष्यों और संस्थाओं से मिलने की ही अधिक रही। श्री सेठ शिवरत्न मोहता मारवाड़ी बालक-बालिकाओं की शिक्षा में विशेष अनुराग रखते थे, आपसे सामाजिक विषयों की चर्चा हुई। आपने भारतीय ग्रन्थमाला के लिए दो सौ रुपये की सहायता दी।

करांची से मैं साबरमती आश्रम गया। रास्ते में पड़ने वाला जेलखाना कष्ट-सहन के लिए तैयार रहने की याद दिलाता था, पास का

श्मशान त्याग-भाव की प्रेरणा करता था। नदी और जंगल प्राकृतिक वातावरण के प्रतीक थे और सादा जीवन का संदेश देते थे। आश्रम में, श्री० काशीनाथ त्रिवेदी से पहले से जान-पहचान थी; पीछे श्री० तोताराम सनाढ्य आदि और भी कई सज्जन मिल गये, जो पूर्व परिचित न होने पर भी, परिचित से ही जान पड़े। यहाँ देखने, सुनने और विचार करने में अनेक बातें आयीं।

अहिन्दी प्रान्त वालों की आशाएँ—साबरमति से मैं अहमदाबाद आया। यहाँ स्वदेशी वस्तु-प्रदर्शनी और गुजरात विद्यापीठ देखी। पीछे गुजरात के एक साहित्य-सेवी से मिलने का प्रसंग आया। आपसे बातचीत हो रही थी। पहिली ही मुलाकात थी, परन्तु उनका स्नेह पर्याप्त था। यह भी मालूम हुआ कि वे मेरी 'श्रद्धाञ्जलि' का गुजराती अनुवाद प्रकाशित करने का विचार करते हैं। उनके हाथ में, मेरी हाल में प्रकाशित 'विश्व-वेदना' पुस्तक थी। वे कह रहे थे—"आप लोगों को हिन्दी भाषा भाषियों का विशाल क्षेत्र मिला है। आप खूब काम कर सकते हैं। आपकी पुस्तकों का प्रचार खूब होता होगा। हमारा क्षेत्र तो बहुत परिमित है। गुजराती के पाठकों की संख्या बहुत थोड़ी है।" पूर्व इसके कि मैं उनके इस कथन की आलोचना में कुछ कहूँ, वे अनायास अपने हाथ में ली हुई मेरी 'विश्व वेदना' को खोलकर भीतर का टाइटल देखने लगे। फिर वे अत्यन्त आश्चर्य से कहने लगे—"हैं! यह क्या!! केवल १२५० प्रतियाँ छपी हैं!!! हम तो गुजराती में भी इतनी थोड़ी प्रतियाँ नहीं छपाते। बहुधा तीन-तीन चार-चार हजार छपाते हैं। दो हजार से कम तो छपाने की बात ही क्या!" मुझे मालूम हुआ कि उनके पूर्व कथन की स्वयं ही आलोचना हो गयी। उन्होंने हिन्दी पाठकों के विषय में जो ऊँचा अनुमान किया था, उसका खण्डन हो गया था; तथापि मैंने यह कह ही दिया कि मेरी वर्तमान परिस्थिति में, सम्भव है, यह १२५० प्रतियाँ ही कई बर्ष के लिए पर्याप्त हों। (प्रथम संस्करण पन्द्रह बर्ष बाद समाप्त हुआ)।

श्री माहेश्वरी महासभा बिड़ला छात्रवृत्ति—श्री सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने माहेश्वरी महासभा को पचास हजार रुपये, माहेश्वरी विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ देने के लिए, प्रदान किये थे। छात्रवृत्तियों की व्यवस्था के लिए सर्वश्री श्रीकृष्णदास जाजू, रामगोपाल मोहता, घनश्यामदास बिड़ला और ब्रिजलाल बियाणी (संयोजक) की एक समिति बनायी गई। श्री बियाणी के जेल जाने के कारण संयोजक का कार्य महासभा के महामन्त्री राधावल्लभ जी लढा ने किया। समिति ने मेरी आवश्यकताओं को लक्ष्य में रख कर मुझे २५) मासिक की एक विशेष छात्रवृत्ति दी, जो जुलाई १६३० से मुझे मिलने लगी। जाजू जी की इच्छा से, नवम्बर १६३१ से यह ३५) मासिक कर दी गयी। परन्तु इस बीच में समिति के नये संयोजक श्री नन्दकिशोर जी गोयदानी बी० ए०, एल-एल० बी० सहारनपुर, हो गये थे। आप ऐसी छात्रवृत्ति दी जाना पसन्द नहीं करते थे। आप के रूख को देख कर सन् १६३२-३३ के बाद मैंने इसे लेना बन्द कर दिया।

यद्यपि भारतीय ग्रन्थमाला आर्थिक दृष्टि से सार्वजनिक नहीं थी, मैंने इधर कई वर्ष इसकी रिपोर्ट में आय-व्यय का व्योरा भी प्रकाशित किया। इन दिनों मेरा निजी (पारिवारिक) खर्च पचास-साठ रुपये के बीच में होता था।

श्री शंकरसहाय सकसेना—श्री सकसेना जी से पत्र-व्यवहार तो पहले भी हुआ था, पर मिलने का अवसर प्रथम बार मई १६३० में आया, जब कि वे अपने घर एटा आये हुए थे।* यहाँ उनके पिता सरकारी हाई स्कूल में सेकिंड-मास्टर थे। आप के राष्ट्रीय विचारों और सादा रहन-सहन को देख कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई और कुछ आश्चर्य भी। श्री सकसेना जी से क्रमशः सम्बन्ध बढ़ता गया। आप को ग्रंथमाला की काफी चिंता रही। आपने उसकी सहायता के लिए 'भव्य विभूतियाँ' पुस्तक

---

*इस प्रथम भेंट के सम्बन्ध में सकसेना जी ने सात वर्ष बाद, दिसम्बर १६३७ के 'विशाल भारत' में एक बहुत भावपूर्ण लेख लिखा था।

की रचना की। आप को आशा थी कि इस सरस और मनोरंजक पुस्तक से अच्छी आय होगी। यह पुस्तक सन् १९३२ के आरम्भ में छपी, पर हम इसका विशेष प्रचार न कर पाये। पहला संस्करण पन्द्रह वर्ष से अधिक समय बना रहा, दूसरे सस्करण का काम अन्य प्रकाशकों के लिए छोड़ दिया गया।

सकसेना जी ने, मेरे अनुरोध पर, 'भारतीय सहकारिता आन्दोलन' पुस्तक लिखी। इसके छपाने की समस्या पर विचार चल ही रहा था कि आपके यहाँ चोरी हो गयी, और यह पुस्तक (हस्तलिखित प्रति) भी चली गई। मेरी तो इच्छा थी ही कि पुस्तक फिर तैयार की जाए, सकसेना जी ने भी सोचा कि मस्तिष्क में इस पुस्तक का विषय अभी ताजा बना हुआ है, अल्प श्रम से ही पुस्तक दुबारा लिखी जा सकती है। बस, उन्होंने साहस करके उसे फिर लिख डाला, और श्री विष्णु-सहाय आई० सी० एस० रजिस्ट्रार, संयुक्त प्रान्तीय सहकारिता विभाग, से प्रोत्साहन पाकर सन् १९३५ में इसे स्वयं ही छपाया। पीछे उन्होंने अपने पास की सब प्रतियाँ ग्रन्थमाला को साधारण मूल्य पर दे दी। यह पुस्तक उस समय तो अपने विषय की अकेली थी ही, पीछे भी कई वर्ष तक अकेली ही रही। इसलिए इसका थोड़ा-बहुत प्रचार होता रहा और इसके अगले सस्करणों का भी नम्बर आया।

सकसेना जी की 'पूर्व की राष्ट्रीय जागृति' पुस्तक इस ग्रन्थमाला से ही प्रकाशित हुई।

श्री प्रेमनारायण माथुर—मई-जून में मैंने अजमेर, ब्यावर, उदयपुर, इन्दौर, खंडवा, वर्धा, नागपुर आदि स्थानों में जाकर विविध साहित्य-प्रेमियों से ग्रन्थमाला के प्रचार आदि के विषय में चर्चा की। इस यात्रा के आरम्भ में बन्धुवर श्री शंकर सहाय सकसेना का साथ था। मेवाड़ के कुछ स्थानों में हमने श्री प्रेमनारायण माथुर के साथ भ्रमण किया। माथुर जी पहले उदयपुर के कालिज में श्री सकसेना के शिष्य रहे थे, उनके द्वारा ही आपसे मेरा परिचय

हुआ । आपकी इस साहित्य-कार्य से अच्छी सहानुभूति रही । आपने इसके सम्बन्ध में एक लेख* अंगरेजी के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' में प्रकाशित कराया । आपने हिन्दी में भी एक लेख लिखा, इस का शीर्षक था 'हिन्दी में ठास साहित्य ।' कुछ समय आप 'राजस्थान' (अजमेर) के संयुक्त सम्पादक रहे, उसके द्वारा भी आपने माला के प्रचार में सहायता प्रदान की । पीछे आप जहाँ कहीं रहे, आपसे बराबर सम्पर्क बना रहा ।

गवालियर राज्य से पुरस्कार—गवालियर महाराज ने प्रति वर्ष लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिए कुछ रकम निर्धारित की थी । पुरस्कार में प्राथमिकता गवालियर राज्य के लेखकों को दी जाती थी, पर बाहर के लेखकों का भी विचार किया जाता था । इस योजना से ग्रन्थमाला को इस वर्ष खासी सहायता मिली । भारतीय शासन, नागरिक शिक्षा, तथा भावना में से प्रत्येक पर पिछत्तर पिछत्तर रुपये तथा बृटिश साम्राज्य शासन पर अस्सी रुपये प्राप्त हुए । अन्तिम पुस्तक का पुरस्कार मेरे तथा दुबे जी, दोनों के लिए था (हम दोनों इसके संयुक्त लेखक थे) । दुबे जी ने अपने हिस्से का पुरस्कार भी ग्रन्थमाला को ही दे दिया । 'भावना' का पुरस्कार उसके लेखक भिक्षु जी के पास भेज दिया गया । इसके बाद भी गवालियर से (इसके मध्यभारत में विलीन होने तक) समय-समय पर पुरस्कार की विविध रकमें मिलती रहीं । 'नागरिक शास्त्र' पर दो सौ रुपये मिला, यह गवालियर से इस ग्रन्थमाला को मिलनेवाला सबसे अधिक था ।

जेल, कालापानी और फांसी—देश में कुछ समय से दमन का दौर दौरा था । राष्ट्रीय आन्दोलन में जिन शब्दों ने मेरा ध्यान बारबार आकर्षित किया, वे थे—'जेल', 'जुर्माना' और 'लाठी-चार्ज' । इनसे कुछ कम, फिर भी काफी प्रभाव डालने वाले शब्द थे 'कालापानी' और 'फांसी' । इन पांचों ने मानों मेरे मन पर बारी बारी से धावा करने

---

* 'Kelaji & his contribution to Hindi,'

की ठान ली। समय समय पर मुझे इन विषयों पर भाषण देने का भी प्रसंग आया। जेल, कालापानी, और फांसी! समाज में, राजनैतिक संसार में, इनका क्या स्थान है! इनसे क्या लाभ है? क्या ये मानव जाति के आजीवन साथी बने रहेंगे? विज्ञान-युग में मनुष्य ने कितनी ही रूढ़ियों को तोड़ डाला। अपराधियों के प्रति वह नवीन दृष्टिकोण से कब विचार करेगा! अस्तु, इस विषय की 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक सन् १९३३ में जाकर तैयार हुई। यद्यपि इसकी हस्तलिखित प्रति देखने वालों ने इसकी बहुत सराहना की, परन्तु बहुत समय तक यह छप न सकी। आखिर, १९३६ में दुबे जी ने अपने पूज्य पिता स्व० श्री बलराम दुबे (जिनका मेरे प्रति भी बहुत स्नेह था) की पुण्य-स्मृति में इसे छपाने की व्यवस्था की।

अन्य भाषा-भाषियों का ग्रंथमाला के प्रति आकर्षण—जब (सन् १९१५) भारतीय शासन का प्रथम संस्करण ही छपा था, तभी कुछ सज्जनों ने मुझसे कहा था कि इस पुस्तक का उर्दू संस्करण भी छपाया जाए। उसके बाद भी समय-समय पर उसकी मांग हुई। पर अपनी आर्थिक स्थिति और साधनों का विचार करके मैं उस ओर ध्यान न दे सका। पीछे 'नागरिक-शिक्षा' के विषय में भी यही बात रही। मैं इन पुस्तकों का उर्दू संस्करण न तो स्वयं छपा सका और न इसके लिए कोई प्रकाशक ही ढूंढ़ सका। श्री प्रोफेसर रामस्वरूप कौशल एम० ए०, अम्बाला, ने इसकी पूर्ति का प्रयत्न आरम्भ किया। आपने 'नागरिक शिक्षा' का उर्दू भाषान्तर किया; यह हंडा प्रेस, जालंधर, से प्रकाशित हुआ। आपकी इच्छा थी कि मेरी सरल भारतीय शासन, ब्रिटिश साम्राज्य शासन और भारतीय शासन का भी उर्दू भाषान्तर करें, पर प्रकाशन का सुयोग न मिलने से आपके कार्य की प्रगति न हुई। पीछे मैं भी उनसे पत्र-व्यवहार करके इसकी कुछ खबर न ले सका।

श्री आनन्दराव जोशी, नागपुर, 'श्रद्धांजलि' का मराठी में अनुवाद करना चाहते थे; उसमें वह कई वर्ष तक सफल न हुए, अन्ततः

उन्होंने जुलाई और अगस्त १९३९ के 'पुरुषार्थ' में इसकी राष्ट्रपति शिवा जी, लो० तिलक, देवी अहल्याबाई, और महाराणी लक्ष्मीबाई को अर्पित की हुई श्रद्धाञ्जलि मराठी में अनुवादित करके प्रकाशित करायी। इस लेखमाला का शीर्षक उन्होंने रखा 'महाराष्ट्रीय विभूतीच्याँ चरणीं, एक पर-प्रान्तस्थाची श्रद्धाञ्जलि'। उन्होंने लेखमाला के आरम्भ में एक सुन्दर 'प्रस्ताविक' देने की कृपा की जिसमें भारतीय ग्रन्थमाला का और श्रद्धाञ्जलि पुस्तक का संक्षेप में किन्तु भाव-पूर्ण शब्दों में परिचय दिया गया था।

'विश्ववेदना' का गुजराती अनुवाद 'समाज सेवक' (बुरहानपुर) वाले करने को थे, पर कुछ बाधाओं के कारण करते-करते रह गये। इसी प्रकार 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' का दक्षिण भारत की भाषाओं में अनुवाद छपाये जाने की बात बहुत-कुछ निश्चित हो गयी थी, पर पीछे उसके अमल में आने की बात मालूम नहीं हुई। जिस किसी ने अनुवाद की अनुमति माँगी, उसे दे दी गयीं, पर पीछे उससे सम्पर्क रखने और पत्र-व्यवहार करने की हमने चिन्ता न की। इसलिए यदि कहीं कुछ कार्य हुआ भी तो हमें ज्ञात नहीं। हमारे लिए यही संतोष रहा कि दूसरी भाषाओं वाले इस साहित्य की ओर आकर्षित तो होते हैं।

कुछ सज्जनों से परिचय; श्री शंकरसहाय वर्मा—इस वर्ष (१९३२) में कई एक सज्जनों से परिचय हुआ। श्री शंकरसहाय वर्मा एम० ए०, इन्दौर से यहाँ आये। आपने इस ग्रन्थमाला के कार्य के सम्बन्ध में बातचीत की। तब से आप ने समय समय पर इस माला के प्रचार का ध्यान रखा है; आप के द्वारा इन्दौर राज्य के विद्यार्थियों को पारितोषिक के रूप में माला की पुस्तकें कई बार दी गयी हैं।

श्री रामगोपाल मूना—श्री रामगोपाल मूना कई वर्ष से पटना-लिखना छोड़कर व्यवसाय में लगे हुए थे। ये कचौरा (अलीगढ़) रहते थे, वहाँ समय-समय पर मैं अपनी रिश्तेदारी में गया। तब इनसे मिलना हुआ। क्रमशः इनके मन में यह विचार आया कि आगे अध्ययन

करना चाहिए। इन्होंने बड़ी हिम्मत करके अपनी दुकान उठादी और बहुत-कुछ अपने ही पुरुषार्थ से ये पंजाब की 'हिन्दी प्रभाकर' में उत्तीर्ण हुए। इन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से साहित्य-रत्न की उपाधि प्राप्त की; अंगरेजी का अभ्यास करके उसकी भी परिक्षाएँ पास की। ये ग्रन्थमाला के प्रचार का ध्यान रखते रहे। जब ये मथुरा में थे तो इन्होंने मुझे श्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और सत्येन्द्र जी एम० ए० से मिलने की प्रेरणा की। मुझे वृन्दावन में रहते इतने वर्ष हो जाने पर भी मैं तब तक इनसे नहीं मिला था। मेरी प्रकृति ही ऐसी रही है।

श्री सेठ कन्हैयालाल और रामनिवास पोद्दार—श्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार एक सम्पन्न व्यक्ति होते हुए भी साहित्य-व्यसनी हैं। आपने साहित्य के इतिहास, आलोचना और व्याकरण पर लिखने में खूब परिश्रम किया और हिन्दी-संसार को कई अच्छी-अच्छी कृतियाँ प्रदान को। वयोवृद्ध होने पर भी आप की विनयशीलता और नम्रता विलक्षण है। आपके यहाँ हिन्दी-अंगरेजी की कितनी ही बहुत अच्छी-अच्छी पुस्तकों का संग्रह था। मैंने उनसे बहुत लाभ उठाया।

आपके बड़े पुत्र श्री रामनिवास बी० ए०, एल-एल० बी० की राजनीति और अर्थशास्त्र में बहुत रुचि थी। उन्होंने कई बार मेरे साथ विविध विषयों पर विचार-विनिमय करने की कृपा की। राजनीति शब्दावली के संशोधन में आप बहुत सहायक हुए।

श्री सत्येन्द्र एम० ए०—श्री सत्येन्द्र जी चम्पा अग्रवाल इंटर कालिज में अध्यापक थे। बहुत अध्यनशील, मिलनसार और परिश्रमी। आप से परिचय हो जाने पर मुझे अपनी रचनाओं पर विचार-विनिमय करने के लिए ही नहीं, दुख-सुख की बातें करने के लिए भी एक योग्य साथी मिल गया। मैं कई बार आपके पास मथुरा रहा हूँ। मैंने देखा कि आपने स्वयं रचना-कार्य करने के अतिरिक्त कितने ही प्रौढ़ विद्यार्थियों तथा अन्य सज्जनों को इस दिशा में प्रोत्साहन तथा सहायता देने का भी बड़ा काम किया। भारतीय ग्रन्थमाला में आपकी दो पुस्तकें प्रकाशित

हुई—(१) साहित्य की झाँकी और (२) नागरिक कहानियाँ। परन्तु हम इनका विशेष प्रचार न कर सके। पीछे श्री सत्येन्द्र जी जैन इंटर कालिज के वायस-प्रिंसीपल होकर आगरा आगये, मैं इलाहाबाद आ गया। तो भी आप से स्नेह-सम्पर्क बना रहा। अब तो आप की योग्यता का सम्मान करके कलकत्ता विश्वविद्यालय ने आपको रीडर पद पर नियुक्त कर दिया है, और आप कलकत्ता ही हैं।

श्री गुरु जी के दर्शन—अप्रेल-मई (१९३३) में मैं बाबैल में अपने बचपन के साथियों तथा दूसरे छोटे-बड़ों से मिलकर अपने श्रद्धा-स्पद गुरू श्री पंडित अयोध्याप्रसाद के दर्शन के लिए गुरुकुल थानेश्वर गया। गुरु जी के पुत्र श्री माधोराम इस संस्था में काम करते थे, और गुरु जी यहाँ इन दिनों उनके पास ही अपनी सहधर्मणी सहित ठहरे हुए थे। इन सब को मेरे आने से ऐसी प्रसन्नता हुई, जैसी किसी को अपने आत्मीय से बहुत समय बाद मिलने से होती है। गुरुकुल के कई अध्यापक और कुछ विद्यार्थी मुझे एक लेखक के रूप में जानते थे। मेरी कई पुस्तकें यहाँ पुस्तकालय में आयी हुई थीं, और भारतीय शासन तो उच्च कक्षाओं के लिए पाठ्य पुस्तक ही थी। गुरुकुल में एक सभा करके शासनपद्धति पर मेरा व्याख्यान कराया गया। मेरे गुरु जी इस सभा में उपस्थित थे और मेरा प्रारम्भिक वक्तव्य आपके प्रति श्रद्धांजलि के रूप में ही था।

श्री डालचंद से भेंट—यहाँ गुरुकुल में डालचन्द जी एम० ए० से भी भेंट हुई। आपका संयुक्तप्रान्त के शिक्षित माहेश्वरी समाज में अच्छा स्थान था। जब कि मैं 'प्रेम' का सम्पादन करता था, उस समय मेरे सुझाने पर श्री० स्वामी आनन्दभिक्षु जी सरस्वती, आनरेरी जनरल मेनेजर, प्रेम महाविद्यालय, ने आप को वहाँ शिक्षण-कार्य के लिए बुलाया था। पर आप वहाँ थोड़े ही समय रह कर चले आये। मालूम हुआ कि आप के स्वभाव में स्थिरता नहीं है। आप किसी भी संस्था में बहुत समय नहीं ठहरे। अस्तु, कई संस्थाओं में रहने

के बाद उस समय आप गुरुकुल थानेश्वर में काम कर रहे थे। आप से विविध, विशेषतया सामाजिक चर्चा हुई।

विशेष वक्तव्य—सेठ जमनालाल जी, तथा माहेश्वरी महासभा द्वारा मिलने वाली छात्रवृत्तियों के समय भी मेरी आर्थिक स्थिति बहुत संतोष-जनक न थी। उनके बन्द हो जाने पर उसका खराब हो जाना स्वाभाविक था। फिर, इधर पुस्तकों की बिक्री असाधारण रूप से कम हो गयी। अब, मेरे कई एक हितैषियों का कथन था कि मुझे अपनी आजीविका के लिए कोई दूसरा कार्य करना चाहिए, और उससे जो समय बचे उसमें ही साहित्य-कार्थ कर लेने से संतोष करना चाहिए, जैसा कि मैं सन् १६२७ ई० तक करता रहा था। यह बात विचारणीय अवश्य थी; पर मेरी भावना या इच्छा के बहुत अनुकूल नहीं थी। लगभग छः वर्ष से मनचाही दिशा में चलते रहकर अब यह विचार करते हुए हृदय को ठेस लगती थी कि मेरे जीवन में, ग्रन्थमाला के इतिहास में, अब फिर पुराना अध्याय चलेगा, पीछे कदम हटाना होगा।

———

प्रस्ताव द्वारा इस ग्रंथमाला के कार्य से हर्ष और गौरव प्रकट किया और श्री घनश्यामदास बिड़ला तथा माहेश्वरी-महासभा-बिड़ला-छात्रवृत्ति समिति को धन्यवाद दिया कि उन्होंने अन्यान्य छात्रवृत्तियों में एक छात्रवृत्ति इस साहित्य-कार्य के लिए प्रदान की। इस प्रकार माहेश्वरी समाज में, खासकर उसके साहित्य प्रेमियों में इस ग्रन्थमाला के प्रति सहानुभूति तथा सम्मान-भाव था।

'माहेश्वरी' के सम्पादन के लिए मेरी नियुक्ति—सन् १६३१-३२ माहेश्वरी महासभा के कार्यकर्ताओं में मतभेद और मनोमालिन्य का आभास होने लगा। क्रमशः विरोध ने उग्र रूप धारण किया। इस समय 'माहेश्वरी' सहारनपुर से श्री नन्दकिशोर जी गोयदानी की देखरेख में निकलता था। इसमें जाजू जी, और वियाणी जी आदि पर आक्षेपों की बौछार होने लगी। उनके साथ मुझ पर भी कटाक्ष होने लगे। पत्र की भाषा कुरुचिपूर्ण हो गयी।

आखिर, माहेश्वरी महासभा के कार्यकारी मंडल ने बहुमत से निश्चय किया 'माहेश्वरी' का प्रकाशन सहारनपुर से बन्द करके वर्धा या नागपुर से किया जाए। पीछे पत्र को नागपुर से निकालने की बात तय रही और मुझे उसके सम्पादन के लिए आमंत्रित किया गया। यद्यपि मैं उसके लिए विशेष उत्सुक न था, एक तो ग्रन्थमाला की आर्थिक चिन्ता से छुटकारा पाने के लिए, दूसरे इस विचार से भी कि सम्भव है इस क्षुब्ध वातावरण के अवसर में कुछ अंश में 'माहेश्वरी' का दुरुपयोग रोकने में सहायक हो सकूं, मैंने कुछ हिचक से ही सही, यह कार्य करना स्वीकार कर लिया। मेरे साथ श्री रामगोपाल चांडक भी सम्पादक नियुक्त हुए। चांडक जी ने हाल में ही बी० ए० पास किया था, और कानून का अध्ययन कर रहे थे। हिन्दी में लिखने-पढ़ने का शौक था, और माहेश्वरी की तत्कालीन परिस्थिति में उसका कार्य करने के लिए खूब उत्साह था। आपने अवैतनिक रूप से योग देना स्वीकार किया। मैं वैतनिक था। मुझसे पूर्व कुछ समय से 'माहेश्वरी'-सम्पादक को १००)

मासिक मिल रहा था। पत्र-समिति ने मेरी इच्छानुसार मुझे भी सौ रुपये मासिक देना स्वीकार किया। यह निश्चय कर दिया गया कि सम्पादन कार्य में, हम दोनों सम्पादकों में यदि किसी विषय पर मत-भेद हो तो मेरे मतानुसार कार्य किया जाय। यह भी विचार कर लिया गया था कि हम पत्र में जो सम्पादकीय लेख या नोट आदि प्रकाशित करें, उसके नीचे अपने नाम के संकेत-स्वरूप प्रथमाक्षर दिया करें, जिससे यह स्पष्ट विदित हो जाय कि कौनसी सामग्री हम दोनों में से किसने दी है। इस प्रकार मेरे लेखों आदि के नीचे 'भ' लिखा रहे।

'माहेश्वरी' की नीति और कार्य—हमारे सम्पादन में 'माहेश्वरी' का प्रथम अंक नागपुर से ६ जुलाई १९३३ को निकला। उसका उद्देश्य सामाजिक सुधार और आर्थिक उन्नति के साथ शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विविध विषयों में प्रगति करना और खासकर मारवाड़ी समाज के सब अंगों में सहयोग बढ़ाना था। समय-समय पर ऐसे लेख भी दिये गये जैसे समाज-सुधार और सुधारक, सामाजिक जीवन की आवश्यकता, मौन सेवा, स्वयं-सेवक, ऊँच नीच की भावना। एक सामाजिक समस्या लेखमाला का क्रम चलाया गया, इसमें इन विषयों की चर्चा हुई—(१) विवाह के लिए कितना धन चाहिए और उसकी व्यवस्था किस प्रकार हो, (२) महिलाओं के वस्त्राभूषण कैसे हों, (३) बालकों की शिक्षा कैसी हो और उसके खर्च के लिए क्या प्रबन्ध किया जाए? एक लेखमाला 'माहेश्वरी रत्नमाला' शीर्षक वाली भी आरंभ की गयी; इसमें निम्नलिखित स्वर्गीय सज्जनों के जीवन-चरित्र प्रकाशित हुए—(१) स्त्री-शिक्षा प्रचारक, श्री मथुराप्रसाद भट्टर, अजमेर; (२) समाज-सेवी मुन्शी नानकराम जी झंवर, बी० ए०, एल-एल० बी०, जयपुर (३) समाज-सुधारक रावसाहब श्री रामविलास शारदा, अजमेर, और (४) 'मारवाड़ी' के संस्थापक श्री रामनारायण राठी, नागपुर।

माहेश्वरी महासभा के प्रस्तावों सम्बन्धी, एवं आर्थिक तथा

व्यापारिक विषयों के भी लेखों का समुचित ध्यान रखा गया। समय-समय पर कुछ राजनैतिक, विशेषतया देशी राज्यों सम्बन्धी लेख भी दिये गये।

लाटरी बुरी है, चाहे वह शिक्षा के लिए ही क्यों न हो—मार्च १९३४ में जब कि मैं वृन्दावन आया हुआ था, जोधपुर की माहेश्वरी कन्या पाठशाला के सुपरिंटेंडेंट ने 'माहेश्वरी' में प्रकाशनार्थ 'जातीय लाटरी' शीर्षक एक सूचना भेजी, जिसका आशय यह था कि पाठक उस संस्था की सहायताके लिए उनकी लाटरी कीयोजना में खूब भाग लें। मेरी अनुपस्थिति में वह सूचना प्रकाशित कर दी गयी और उसके भावों का समर्थन भी कर दिया गया। मुझे यह पसन्द न आया, मैंने २६ मार्च के अंक में हर प्रकार की लाटरी का विरोध किया। इस पर कन्या पाठशाला के सुपरिंटेन्डेन्ट बहुत नाराज हुए, परन्तु मैंने लाटरी की सूचना 'माहेश्वरी' में प्रकाशित नहीं ही की।

मेरा नागपुर का रहनसहन—नागपुर में मेरा रहनसहन कैसा था, इसको मैंने वृन्दावन भेजे हुए अपने पत्रों में चर्चा की है। आगे एक पत्र उद्धृत किया जाता है, यह विशेष ऋतु (सर्दी) के दिनों का लिखा होने पर भी कई बातों पर व्यापक प्रकाश डालने वाला है।

ता० १३-१२-३३

चिरंजीव प्रेम, ओम,

मैंनें सोचा है कि प्रति मास तुम्हें एक पत्र ऐसा लिखा जाय, जिससे तुम यहाँ के जीवन की बातें जान सको। इस वार मैं कुछ अपने ही बारे में लिखता हूँ।

यहाँ पर सवेरे पौने पाँच बजे मिल की सीटी होती है, मैं उस समय के आस-पास उठ जाता हूँ, कभी कुछ देर पहिले, और कभी कुछ देर पीछे। शौच के लिए यहाँ उसी जगह व्यवस्था नहीं है जहाँ हम रहते तथा सोते हैं, जैसे अपने वृन्दावन से मकान में हैं। हमें मकान से नीचे उतर बाहर टट्टियों में जाना होता है। शौच जाकर स्नान का कार्य आता है,

तुम आज कल गर्म पानी का इन्तजार किया करते होगे। यहाँ गर्म पानी कहाँ! ताजा पानी भी नहीं मिल सकता। दिन में इधर नल में पानी नहीं आता, रात को भर कर रखना होता है—पीने के लिए भी और नहाने के लिए भी। हाँ, तो स्नान ठंडे पानी से किया जाता है। पानी गर्म किया जा सकता है, पर वह झंझट कौन उठाए! दूसरी बात यह है कि यहाँ नहाने के लिए कोई बन्द जगह नहीं है, और खुली जगह में गर्म पानी से नहाने से अच्छा यही है कि ठंडे पानी से नहा लिया जाए। इसमें एक बार हिम्मत तो करनी पड़ती है, पीछे कुछ नहीं, कपड़े पहिने और बदन में गर्मी आयी।

मैं अन्धेरे ही मंजन करके स्नान कर लेता हूँ। आशा है तुम दोनों भी मंजन नित्य नियम से करते होगे। दाँत बहुत साफ रहने चाहिएँ, अभी से बराबर ध्यान नहीं रहा तो जैसे मेरे तथा तुम्हारी जीजी के दाँतों की हालत है, वैसा ही तुम्हें भुगतना पड़ेगा।

स्नान करके प्रति दिन घूमने सबेरे निकल जाता हूँ। मालूम नहीं तुम आज कल सबेरे घूमने को जाते हो या नहीं। मैं तो हर रोज जाता हूँ। किसी दिन तबियत ज्यादा खराब रही तो उस दिन की बात अलग है। मैं यह कोशिश करता हूँ कि जहाँ तक बने, बीमार न पड़ूँ; क्योंकि बीमार पड़ने से काम में बाधा आती है, और पास वालों को बहुत तकलीफ देनी पड़ती है, तथा खर्च भी अधिक होता है।

हाँ, शहरों में घूमने का वैसा सुभीता नहीं है, जैसा तुन्हें वृन्दावन में है। जरा सी दूर जाने पर तुम्हें जंगल की ताजी हवा मिल सकती है। पर यहाँ तो कुछ जगह ऐसी भी है जहाँ से जंगल मीलों दूर है। खैर, सौभाग्य से मैंने अब एक स्थान सोच लिया है, जहाँ थोड़ी दूर जाकर ही टेकड़ी (छोटी पहाड़ी) मिल जाती है। थोड़ी देर उस पर टहल आता हूँ।

जहाँ तक बन आता है सात बजे पूर्व अर्थात् सूर्य का प्रकाश होते

ही काम पर बैठ जाता हूँ। फिर लगभग सवा नौ बजे भोजन करने जाता हूँ। वह जगह यहाँ से लगभग डेढ़ फरलांग के फासले पर है।

तुम्हारे शौच, स्नान, सोने, और भोजन की जगह सब मिली हुई है। यहाँ यह बात नहीं। पर इसमें मैं कुछ तकलीफ मानता हूँ, सो बात नहीं। दुख सुख तो बहुत कुछ अपने मन की भावना पर निर्भर रहते हैं। सब जगह घर जैसा आराम नहीं मिलता। आदमी को चाहिए जहाँ जैसी स्थिति हो, वहाँ वैसे ही गुजर कर लेनी चाहिए।

इतवार को मैं ढाबे (होटल) में भोजन नहीं करता। इस दिन कुछ हलका सा भोजन, फल आदि ही लेता हूँ। इसमें कुछ पैसे भी कम खर्च होते हैं।

इतवार को कुछ कपड़े धोने का काम भी कर लेता हूँ। पिछले इतवार को तीन टोपियाँ और चार रुमाल धो डाले, जिनकी धुलाई तीन आने नहीं तो कम से कम दस पैसे अवश्य होती।

पिछले महीने में एक खद्दर की धोती लाया हूँ। खद्दर मंहगी होती है, फिर भी मेरी इच्छा है कि और जगह किफायत करके भी हमें शुद्ध खद्दर पहनूँ। दाम ज्यादह होने से, मैं धोती छोटी लाया, (अर्ज में तो ठीक है) उससे दिक्कत होती है। अभी एक धोती की जरूरत और भी है, पर एक जोड़ा जूता खरीदना आवश्यक था, अतः दूसरी धोती नहीं खरीदी। सब चीजें एक साथ लेने से खर्च का अन्दाज ठीक नहीं रहता। हमें प्रति मास निश्चित रकम से ज्यादह खर्च नहीं करना चाहिए। जहाँ तक बने, उसी में काम चलाना चाहिए। निदान, मैं बोर्डिंग-हाउस में रहने वाले विद्यार्थी की तरह ही रहता हूँ। रात को लिखने का काम नहीं करता, अखबार पढ़ता हूँ। हाँ, दिन का वक्त कुछ भी खराब नहीं करता। शेष बातें अगले महिने दूसरे पत्र में लिखूँगा।

(दूसरे पत्र का कुछ अंश)

इस बार मैंने निश्चय कर लिया था कि मेरा मासिक खर्च यहाँ १५ रु० से अधिक न हो। यहाँ घी सहित भोजन खर्च १२ है। और,

बिना घी का ६ रु० । इस प्रकार केवल घी के तीन रुपये माहवार होते हैं। हम घर पर तीन चार रुपये का घी सब मिल कर खर्च करते हैं। इसलिए मैंने यहाँ बिना घी के भोजन लेना शुरू किया और १२,१३ दिन वैसे ही लिया। फिर, रामगोपाल जी किलाद से घी ले आये, पीछे मैंने मोल मंगा लिया। अब घी का खर्च औसतन रुपया सवा रुपया महिना होगा। दूध पहले हम रोज लेते थे। एक डेयरी वाले से बाँध रखा था, तीन आदमी सेर भर लेते थे। ७) का ३२ सेर मिलता था। फिर उसे गरम करने आदि का काम रहता था। परन्तु ऐसे शहरों में दूध तो रोज केवल पैसे वाले धनिक लोग ही ले सकते हैं। हमने उसे बन्द कर दिया। अब ५,४ दिन में कभी बहुत इच्छा हुई, उस दिन गरम करा-कराया दूध एक प्याला (कप) ले लिया, उसके -) से -)॥ तक लगते हैं।

कपड़ा धुलाई का खर्च भी शहर में बहुत अधिक होता है। मैंने छोटे कपड़े स्वयं धोने शुरू कर दिये हैं। -) का साबुन ले लिया। हर इतवार को =) से लेकर ≡) तक की धुलाई कर लेता हूँ। -) के साबुन से शायद ।।।) या १) तक की बचत हो सकेगी।

इस प्रकार आदमी जरा ध्यान दे तो अपने खर्च में थोड़ी-थोड़ी करके भी बहुत बचत कर सकता है—एक-एक पैसे की भी बहुत कीमत समझनी चाहिए—और, इस बचत में कुछ तकलीफ नहीं होती। आदत की बात है। अपने हाथ से काम करने से सुख मिलता है। तबियत में सादगी रहती है तो शान्ति भी अधिक होती है। भारतवर्ष में ज्यादा भाई बहुत गरीब हैं, तो जिनके पास पैसा है, उन्हें भी सादगी से रहना ही अच्छा हैं। महात्मा गाँधी ने कहा है कि जिस देश के सौ पीछे अस्सी आदमियों को अच्छा भोजन भी नसीब नहीं होता, वहाँ स्त्रियों को जेवर पहनना शोभा नहीं देता। ऐसी ही बात पुरुषों के भी विचारने की है।

कुछ सज्जनों से सम्पर्क; श्री रामगोपाल माहेश्वरी—नागपुर में रहते कई सज्जनों से सम्पर्क हुआ। श्री रामगोपाल चांडक

का उल्लेख पहले हुआ है। ये 'माहेश्वरी' के संयुक्त सम्पादक होने के नाते मेरे साथी ही थे। आजकल थे नागपुर से प्रकाशित होने वाले दैनिक 'नवभारत' के सम्पादक और संचालक हैं और 'माहेश्वरी जी' के नाम से प्रसिद्ध है। इनका मेरा दृष्टिकोण तथा रहन-सहन आदि कुछ भिन्न होते हुए भी मुझसे इनका व्यवहार बहुत स्नेहमय रहा। प्रेस के काम से कई बार रात को देर तक जागना आवश्यक होता था, ऐसे समय इसकी जिम्मेवरी आप पर हो रहती थी। व्यवस्था कार्य के सम्बन्ध में कहीं जाने आने का काम भी आप ही करते थे, उसके लिए मुझे कष्ट नहीं देते थे; हर प्रकार मेरे स्वास्थ्य और सुविधा का ध्यान रखते थे। पीछे भी आप से सम्पर्क बना रहा। पिछले दिनों अगस्त १९५३ में आपसे भेंट हुई, आपने मुझे कई मित्रों से मिलाने की कृपा की।

श्री पूनमचन्द रांका—नागपुर में अन्य सज्जनों में श्री पूनमचन्द रांका से जल्दी ही बहुत सम्बन्ध हो गया। आपकी सौम्य मूर्ति, सरल स्वभाव और लोकसेवा की भावना बहुत आकर्षक थी। अनेक राष्ट्रीय कार्य-कर्ताओं से आपका अच्छा परिचय था; बहुधा बाहर से आने वाले सज्जनों के ठहरने की व्यवस्था आपके यहाँ ही होती थी। इस प्रकार आपके द्वारा विविध महानुभावों से मिलने-भेंटने का प्रसंग सहज ही आ जाता था।

बैजनाथ जी महोदय—श्री बैजनाथ महोदय से पहली बार यहाँ ही भेंट हुई। आपने मेरी 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक की हस्तलिखित प्रति देखी तो उसे बहुत पसन्द किया। मेरे कहने पर आपने इसे सस्ता साहित्य मंडल से छपाने की व्यवस्था करनी चाही, पर मंडल ने इसे स्वीकार न किया। पीछे समय-समय पर आपसे मिलने का प्रसंग आया। आपमें शान्त भाव से देश सेवा करने की बहत लगन पायी गयी।

पंडित सुन्दरलाल जी—पंडित जी से मैं पहले कई बार थोड़ी-थोड़ी देर मिला था। अब तो आपसे कई विषयों पर घंटों बातचीत

करने का अवसर आया। मेरे निवेदन पर आपने श्रद्धाञ्जलि और भारतीय नागरिक पुस्तकों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा और उनके सम्बन्ध में अपने विचार नोट करके देने का कष्ट उठाया; पीछे आपने वार्तालाप में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने की कृपा की। इस अवसर पर मुझे आपके हिन्दू-मुसलिम सम्बन्ध के विचार खुलासा मालूम हुए। आपको मेरी 'अपराध चिकित्सा' पुस्तक पसन्द आयी; अपने उसकी भूमिका लिखी। पीछे आपका और मेरा दोनों का प्रयाग में रहना हुआ तो मैं अकसर आपसे मिलता रहा। मुझे 'साम्राज्य और उनका पतन' तथा 'विश्व-संघ की ओर' के विषय में आपका सहयोग मिला। आप भाषा बहुत सरल रखने के पक्ष में रहे हैं, आपने 'नया हिन्द' द्वारा देवनागरी और फारसी दोनों लिपियों वाली हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचार किया है।

महात्मा भगवानदीन—श्री भगवानदीन जी अपने ढंग के एक खास सज्जन हैं। आपको मामूली जांघिया पहने और चद्दर ओढ़े या नंगे बदन देख कर बहुत कम आदमी यह अनुमान कर सकते हैं कि आपमें विचारों की कितनी गहरायी है और मानवता का कितना विकास हुआ है। आपसे थोड़ा सा परिचय हो जाने पर ही ये पंक्तियाँ याद आने लगती हैं—

चांद बादलों में छिपा था, मुझे मालूम न था।
शक्ल इन्सान में खुदा था, मुझे मालूम न था।

नागपुर में आप उन दिनों काफी समय रहे, और आपसे कई बार बातचीत करने का प्रसंग आया। पीछे इलाहाबाद में आपसे समय-समय पर मिलना हुआ, आपके भाषण सुने और आपकी पुस्तकें तथा लेख पढ़े। हर बार कुछ नवीनता, तेजस्विता और गम्भीरता के दर्शन हुए।

'माहेश्वरी' से विदा—मुझे समय-समय पर यह विचार हुआ कि 'माहेश्वरी' का क्षेत्र बहुत संकुचित ही है, और किसी सामाजिक पत्र का सम्पादन मेरे बहुत अनुकूल नहीं है। इधर श्री रामगोपाल इस

कार्य को लेने के इच्छुक हो रहे थे। अस्तु, पत्र-समिति की इच्छा से मैं माहेश्वरी महासभा के अधिवेशन तक यह कार्य करता रहा। अधिवेशन अजमेर में हुआ। पत्र का व्यय कम करने का विचार सामने था ही। रामगोपाल जी ने पूरा कार्य अवैतनिक करने की भावना प्रकट की। निश्चय हुआ कि आगे से पत्र केवल उनके सम्पादन में निकले और उन्हें ५०) मासिक दिया जाए। इस प्रकार मेरा सम्पादन-काल समाप्त हुआ, और मैंने 'माहेश्वरी' से विदा ली।

मेरे 'अन्तिम' विचार—सितम्बर १९३३ में मैं डेढ़ मास के लिए नागपुर से वृन्दावन आया था। उस समय मैंने सोचा कि प्रायः आदमी कुछ बातें अन्त समय में कहा करते हैं, जब कि बहुधा परिस्थिति बहुत अनुकूल नहीं होती। मुझे जो कुछ कहना है, वह पहले से शान्ति-पूर्वक कह देना चाहिए। हां, यह सम्भव है कि उसके बाद जीवन काफी समय चलता रहे और अपने पूर्व सूचित विचारों में कुछ अन्तर आ जाए। इसलिए इन विचारों का समय-समय पर संशोधित रूप उपस्थित करते रहना चाहिए। अस्तु, २९ अक्टूबर, दीपावली के दिन मैंने उस समय की दृष्टि से अपने 'अन्तिम' विचार नोट करके घर वालों को सुना दिये। उनकी मुख्य बातें ये थीं :—

'मैं अपनी आशा और अनुमान से कहीं अधिक समय जी चुका हूँ। मेरे जीवन में जो कुछ भी अच्छी बात बन आयी है, उसका श्रेय मेरी स्व० माता जी को है। उनकी स्मृति-स्वरूप 'भारतीय ग्रन्थमाला' की स्थापना हुई है। यही मेरा मुख्य कार्य है। यही मेरा स्मारक है। मेरे प्रेमी बंधुओं को चाहिए कि इसमें ही अपने प्रेम का परिचय दें। अपने उत्तराधिकारियों के लिए मेरा परामर्श है कि जीवन सादा और सरल रखें, संयमी हों, सामाजिक व्यवहार में ऊँचा आदर्श रखें, संतुष्ट और स्वावलम्बी रहें, तथा किसी से बहुत अधिक आशा न रखें, और सेवामय जीवन बिताएँ।

———

बारहवाँ अध्याय

फिर अभीष्ट मार्ग पर

कृष्ण के नजदीक जीवन-यज्ञ एक कठिन व्रत नहीं, बल्कि मंगलोत्सव है या व्रतोत्सव है। यदि सुख में स्वास्थ्य का आनन्द है तो दुख में उसके साथ लड़ने का अनन्द है। द्वारिका में वैभव है, तो गोकुल में बछड़ों और गोपियों के साथ क्रीड़ा है।

—किशोरलाल मश्रुवाला

मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति तथा अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने में प्रवृत्त हो—यह उसका स्वधर्म है। स्वधर्म-पालन से उल्लासमय स्वतन्त्रता एवं आत्मानुभूति का द्वार खुलता है।

—रामेश्वर गुप्ता

वृन्दावन आकर ग्रन्थमाला संभालना—मई १६३४ में मैं वृन्दावन आया। बहुत समय तक बन्द रही दुकान फिर चलानी थी। पुस्तक-रूपी कुछ सामान खराब होने और ग्राहकों का सम्बन्ध शिथिल होने का ही प्रश्न नहीं था, मानसिक अनुकूलता का अभाव भी स्पष्ट था। किस किताब को लिखने के विषय में कहां तक विचार किया गया था, उसके आगे क्या योजना थी, किस-किस सामाग्री का उपयोग करना था—इन बातों की स्मृति अब बहुत धुंधली ही रह गयी थी, और कुछ बातें तो दिमाग में बिलकुल ही नहीं रही थी। इन टूटी-हुई तथा बिखरी कड़ियों का अब जैसे जैसे ज्योंत बैठाना था। काम काफी कठिनाई और परेशानी का था, और अकेले ही करना था: पर घबराने या

झुंझलाने से समस्या हल होने वाली भी नहीं थी। यथा-सम्भव हिम्मत करके इसमें लगा।

पुत्र-वियोग ; मेरे धैर्य की परीक्षा—परन्तु कुछ विशेष समय बीतने से पहले ही एक दैवी आपत्ति का सामना करना पड़ा। १५ जून को प्रेमनारायण हम से सदैव के लिए बिछुड़ गया। संसारी पुरुषों के लिए ऐसी घटनाएँ कितनी चिन्तादायक होती हैं! अस्तु, अब विशेषतया उसकी माता का स्वास्थ्य एक दम बहुत खराब हो गया, कुछ अंश में तो स्थायी रूप से बिगड़ गया। इससे मेरे कार्य में विघ्न रहना स्वाभाविक ही था। तो भी जहां तक बन आया, कार्य चलाया गया; कार्य करके ही दुख और चिन्ता की निवृत्ति का प्रयत्न किया गया।

इस घटना और मेरी स्थिति को इससे १६ वर्ष बाद मेरे दूसरे पुत्र ओमप्रकाश ने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे हुए एक पत्र में इस प्रकार वर्णन किया :—

"१६ जून, १९३४ की घटना मुझे भुलाए नहीं भूलती। मेरे बड़े भाई की अवस्था उस समय १४ वर्ष थी और स्वास्थ्य को छोड़कर अन्य गुणों में वे पिताजी के सर्वथा अनुरूप ही थे। पिताजी का स्वास्थ्य जितना खराब है, उनका स्वास्थ्य उतना ही अच्छा था। १४ वर्ष की उम्र में वे १८ वर्ष जैसे हृष्ट पुष्ट युवक प्रतीत होते थे। भाषण-शक्ति उनमें असाधारण थी; क्योंकि बचपन से ही उन्होंने उसका अभ्यास किया था। पिताजी ने उन्हें सर्वथा अपनी कल्पना के अनुसार ही पाया था और उनसे भविष्य में बड़ी-बड़ी आशाएँ केवल उन्होंने नहीं, उनके मित्रों ने भी बाँध रखी थीं। उन्हें उस वर्ष मोतीझरा निकला। आरम्भ से ही योग्य चिकित्सकों का इलाज कराया गया। १५ जून के प्रातःकाल तक हालत काफी अच्छी थी; पर दोपहर को एकाएक दशा बिगड़ने लगी और फिर वह बहुत खराब हो गई। तीन बजे के करीब उन्हें शय्या से उतार कर भूमि पर ले लिया गया। पन्द्रह मिनट में ही चार बार 'हरि ओ३म्' कहने के बाद उन्होंने प्राण त्याग दिये। उनका जमुना

में जल-प्रवाह कर दिया गया। पिताजी ६ बजे तक श्मशान से लौटे। अगले दिन वे सवेरे ही लिखने-पढ़ने लग गये। जो मित्र इस समाचार को सुनकर शोक में धैर्य बंधाने आये थे, उन्हें यह भ्रम हुआ कि शायद उन्हें गलत खबर मिली है। कुछ लोग तो इस भ्रम से लौट ही गये; पर जिन्हें निश्चित पता था, उन्होंने पिता जी से कहा कि आप ऐसी अवस्था में कुछ लिख कैसे पा रहे हैं? पिताजी का संक्षिप्त उत्तर था—'मैंने और आपने भरसक प्रयत्न किये, पर ईश्वर की इच्छा यही थी। मुझे अपना कार्य करना ही चाहिए।' गीता का उपदेश और वैराग्य की बातें मैंने लोगों से प्रायः सुनी हैं; पर पिताजी के मुंह से मैंने ऐसे कोई उपदेश नहीं सुने। किन्तु घोर वज्रपात के समय उन्होंने अपने धैर्यपूर्ण व्यवहार द्वारा जो उपदेश दिया, वह जीवन भर स्मरण रहेगा।"

नौ नकद न तेरह उधार—पुस्तकें उधार देने से प्रचार में सहायता मिलती है, कारोबार फैलता है—यह प्रायः कहा जाता है, और कुछ अंश में ठीक भी है। पर इसका दूसरा पहलू भी है। मुझे तो 'नौ नकद, न तेरह उधार' नीति ही अच्छी मालूम हुई है। इसलिए मैं यथा-सम्भव विक्रयार्थ पुस्तकें उधार नहीं देता था। मैं हिसाब रखने, और पत्र-व्यवहार के कार्य को बहुत परिमित रूप में ही रखना चाहता था। फिर भी समय-समय पर किसी व्यक्ति को कुछ विशेष कारणों से पुस्तकें उधार दी ही गयीं। प्रायः इसका अनुभव अच्छा नहीं रहा। जब रुपये का तकाजा करने के लिए मुझे किसी को पत्र लिखना पड़ता तो उसमें समय लगाना बहुत अखरता। पत्र देते-देते थक जाता तो हार कर तकाजा करना बन्द कर देता। कुछ जगहों से पुस्तकें लौटकर आयीं, तो अच्छी दशा में न मिलीं; अथवा ऐसे समय आयीं जब कि उनका नया संस्करण छप जाने से वे कुछ काम की न रहीं। अस्तु, कुछ समय से कलकत्ते के एक सज्जन अपनी दुकान के पते से पुस्तकें मंगाते थे, मुझे उनके नाम का भी ज्ञान न था। पहले कुछ समय

हिसाब साफ होता रहा। आखिर, उन्होंने वृहत् प्रचार की आशा दिला कर मुझ से इकट्ठी पुस्तकें उधार मंगा लीं, तथा कुछ समय बाद कलकत्ते से दुकान उठा ली। अब मैं उनको जो पत्र देता वह वापिस मेरे पास लौट आता। आखिर, इस हिसाब को निपटाने (और ग्रन्थमाला का प्रचार करने) के लिए मैं फरवरी १९३५ में कलकत्ता गया। वे महाशय वहां नहीं थे, बिहार आये हुए थे। कुछ समय बाद जैसे तैसे हिसाब निपटा।

हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य'—कलकत्ता रहते हुए मैंने हनुमान पुस्तकालय, सलकिया, (हवड़ा) की अर्थ-शास्त्र और राजनीति सम्बन्धी, हिन्दी की बहुत सी पुस्तकें देखीं तथा उनका परिचय नोट किया। इस सामग्री का उपयोग 'हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य' पुस्तक में हुआ। मेरी बहुत समय से इच्छा थी कि साहित्य के जिस क्षेत्र में यह ग्रन्थमाला काम कर रही है, उसका सर्वसाधारण को कुछ ब्योरेवार परिचय दिया जाए। समय समय पर इस दिशा में कार्य किया गया था। भारतीय निबन्ध-माला के दो निबन्ध भी इसी उद्देश्य से लिखे जाकर प्रकाशित कराये गये थे। आखिर, दुबे जी के सहयोग से यह पुस्तक तैयार करके प्रकाशित की गयी। इसे देखकर कई समालोचकों ने इस बात की बड़ी आवश्यकता बतलायी कि हिन्दी साहित्य के अन्य अङ्गों का भी इसी प्रकार परिचय कराया जाए; यह पाठकों के अतिरिक्त लेखकों और प्रकाशकों के लिए भी उप-योगी होगा।

बिहारी सज्जनों से भेंट—कलकत्ते से लौटते हुए मैं पटना ठहरा। यहां श्री० गदाधरप्रसाद अम्बष्ट पहले से परिचित थे। इनके साथ कई विषयों पर विचार-विनिमय हुआ। इन्होंने मुझे 'योगी', 'नव-शक्ति, 'सर्चलाइट' आदि के सम्पादकों से मिलाया। श्री० जगतनारायण-लाल बिहार विद्यापीठ के अधिकारियों एवं मान्यवर राजेन्द्रप्रसाद जी (इस समय राष्ट्रपति) से भी भेंट हुई। राजेन्द्रबाबू एक साधारण

कमरे में फर्श पर बैठे थे। सामने छोटा सा डेस्क था। आपकी पोशाक से आप कुछ अच्छी हैसियत के किसान या ग्रामीण जचते थे। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने पीछे मेरे साहित्यकार्य के सम्बन्ध में, अपने बहुत भावपूर्ण विचार 'योगी' में प्रगट किये।

दुबे जी की ग्रन्थ-निर्माण योजना—सन् १६३६ में मुझे बड़े अर्थ संकट का अनुभव हुआ। आखिर, समस्या हल करने का एक मार्ग दिखायी दिया। श्री दयाशंकर दुबे बहुत समय से कह रहे थे कि मैं उनके पास रहकर अर्थशास्त्र पर एक बड़ा सिद्धान्त का ग्रन्थ लिखूं। यह कार्य टलता जा रहा था। अब मई में मैं प्रयाग जाकर उनसे विचार-विनिमय करते हुए पहले 'धन की उत्पत्ति' लिखने लगा। इसमें चार माह लगे। यह पुस्तक लाला रामनारायणलाल के यहाँ प्रकाशित हुई।

दुबे जी चाहते थे कि मैं उनके साथ (संयुक्त लेखक के रूप में) 'धन की उत्पत्ति' की तरह अर्थशास्त्र के अन्य भागों के सम्बन्ध में भी इसी तरह सिद्धान्त की पुस्तकें लिखूँ। पीछे उन पुस्तकों को मिला कर एक बड़ा ग्रन्थ बन जाए जो बी० ए० के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में स्थान पाए। इस काम के लिए समय काफी चाहिए था, और मैं बहुत दिन घर से बाहर नहीं रह सकता था। एक बात और भी थी, वह गौण थी। दुबे जी चाहते थे कि बड़े ग्रन्थ पर केवल उनका ही नाम रहे। बात यह थी कि वे इस ग्रन्थ को मंगलाप्रसाद पुरस्कार के लिए विचारार्थ भेजना चाहते थे, और उसके लिए किसी ग्रन्थ का एक ही लेखक की कृति होना ठीक माना जाता था। अस्तु, मैं इस बड़े ग्रन्थ का काम हाथ में न ले सका। दुबे जी को मेरा 'असहयोग' खटका, तथापि उनके व्यवहार में अन्तर नहीं आया। उन्होंने पीछे 'अर्थशास्त्र की रूप-रेखा' ग्रन्थ कहानियों के रूप में छपाया। उस पर उन्हें मंगला-प्रसाद पुरस्कार नहीं मिला तो उन्हें इसका इतना दुख हुआ कि मैं आश्चर्य में रह गया। मैं उनसे ऐसी आशा नहीं करता था। सोचता

हूँ कि पूजा-पाठ करने से यह लाभ तो होना ही चाहिए कि हर्ष और शोक, हानि और लाभ के समय मन चलायमान न हो।

पुस्तक न होने पर भी पाठ्य क्रम में नाम छपा—एक दिन लाला रामनारायणलाल के यहाँ मध्यप्रान्त का पाठ्यक्रम देखकर मुझे एक विचित्र बात मालूम हुई। उसमें मेरी 'भारतीय राज्य शासन' नाम की पुस्तक दसवीं-ग्यारहवीं श्रेणी के लिए प्रारम्भिक इतिहास की पाठ्य पुस्तक दर्ज है, जब कि वास्तव में मेरी इस नाम की कोई पुस्तक थी ही नहीं। पुस्तक मिलने का पता माहेश्वरी कार्यालय, अलीगढ़, छपा था। सोचने पर मालूम हुआ कि कई वर्ष पहले मध्यप्रान्त में मेरी 'भारतीय शासन' मैट्रिक क्लास के लिए पाठ्य पुस्तक रही थी। उसके बाद यह विषय मिडल क्लासों में आ जाने से मेरी पुस्तक पाठ्य पुस्तक नहीं रही थी। अब फिर यह विषय मैट्रिक में ले लिये जाने से मेरी पुस्तक निर्धारित कर दी गयी है, और भूल से उसका नाम 'भारतीय राज्य शासन' हो गया।

पाठ्य पुस्तकों की रचना—इस पर लाला रामनारायणलाल के अनुरोध से 'भारतीय राज्य शासन' नाम की एक नयी पुस्तक तैयार की गयी, जो पाठ्य-क्रम के अनुसार थी। यह पुस्तक लिखे जाने के साथ ही छपती गयी। पाठ्य पुस्तकों के प्रति प्रकाशकों का कैसा आकर्षण होता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। इसी समय मध्यप्रान्त की नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं श्रेणियों के लिए मेरी 'सीविक्स' की पुस्तक (नागरिक ज्ञान) भी लिखी जाकर प्रकाशित हो गयी। पीछे मैंने मध्यप्रान्त की छटी-सातवीं कलासों के लिए सरल नागरिक ज्ञान (दो भाग) और संयुक्तप्रान्त को मैट्रिक के लिए एलिमेंटरी सीविक्स लिखी। कुछ समय बाद (सन् १९३९) दुबे जी के साथ इंटर क्लासों के लिए 'सरल अर्थशास्त्र' लिखा गया। ये सब पुस्तकें लाला रामनारायणलाल के कहने से तैयार की गयी थीं, और उनके द्वारा ही प्रकाशित हुईं। पिछली दो पुस्तकों का उर्दू संस्करण भी छपाया गया

इंटर की 'सीविक्स' के लिए मेरी पुस्तक 'सरल नागरिक शास्त्र' हिन्दी साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित हुई। इसके सम्बन्ध में आगे लिखा जाएगा।

रायल्टी की बात—लाला रामनारायणलाल ने मुझे पुस्तकों की रायल्टी देना स्वीकार किया। 'रायल्टी' का सिद्धान्त अच्छा है, इससे लेखक को भविष्य में आय का साधन रहता है, नकदी तो एक बार ही मिल कर रह जाती है, और प्रायः उसका परिमाण भी अपेक्षाकृत कम रहता है। परन्तु अधिकांश लेखकों के सामने दूसरी बात विचारणीय होती है। उन्हें तत्काल रुपये की आवश्यकता होती है, उन्हें उसी समय एकसाथ जो कुछ मिल सके उसे ही लेकर संतोष करना होता है। मेरे सामने भी यही बात थी, पर दुबे जी ने मेरी रायल्टी के आधार पर मुझे रुपया देकर मेरी समस्या हल कर दी।

ऊपर कहा गया है कि लेखकों के लिए पारिश्रमिक की रकम एक-साथ लेने के बजाय प्रायः रायल्टी के रूप में लेना लाभकारी है। पर रायल्टी के हिसाब में भी गड़बड़ हो सकती है। यदि कोई प्रकाशक अधिक प्रतियाँ छपा कर लेखक को थोड़ी ही प्रतियाँ छपाने की बात कहे और इस प्रकार उसे पूरी रायल्टी देने से बचता रहे तो साधारण लेखक का कुछ वश नहीं चल सकता, वह कुछ रुपयों के लिए झगड़ा मोल लेना और प्रकाशक से बिगाड़ना न चाहेगा। यों प्रकाशकों में सभी तरह के होते हैं, और कुछ का व्यवहार अच्छा भी रहता है। लाला रामनारायणलाल की गिनती इनमें ही रही है। हाँ, इनकी एक बात मुझे ठीक नहीं मालूम हुई। युद्ध-काल में इन्होंने पुस्तकों का मूल्य बढ़ाया, परन्तु रायल्टी दी पूर्व निर्धारित कम मूल्य के हिसाब से ही। इसके विषय में उन्होंने अपनी सफाई दी, पर उससे यथेष्ट संतोष न हुआ।

सम्मेलन कार्य के लिए यात्रा—सन् १९३७ में जब कई प्रान्तों में कांग्रेस-सरकारें काम कर रही थीं, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर

से मुझे उसकी परीक्षाओं को मान्यता दिलाने का प्रयत्न करने के लिए कहा गया। इस पर सितम्बर में मैं पहले लखनऊ गया, वहाँ उस समय कौंसिल की मीटिंग हो रही थी, इससे कई सज्जनों से—खासकर सर्वश्री आचार्य जुगलकिशोर (पार्लिमेंटरी सेक्रेटरी), प्यारेलाल (शिक्षा मंत्री) और पुरुषोत्तमदास टंडन (स्पीकर, व्यवस्थापक सभा) से वहाँ ही मिलना हो गया। सबसे प्रसंगानुसार विचार विनिमय हुआ।

लखनऊ से मैं पटना गया। यहाँ श्री छविनाथ पांडे पूर्व परिचित थे। आपने तथा श्री रामधारीप्रसाद (भूत-पूर्व मंत्री, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन) ने मुझे विविध अधिकारियों से मिलाया और सम्मेलन के सम्बन्ध में उनकी नीति जानने का अवसर दिया। इसी समय (ता० १८ सितम्बर) आरा में हरिऔध जी उपाध्याय को अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जाने वाला था, उत्सव के सभापति थे श्री राजेन्द्र बाबू। खासकर आपसे मिलने के लिए मैं आरा गया। उत्सव में उपस्थिति बहुत ही कम थी। पर मुझे तो अपने काम से मतलब था। श्री राजेन्द्र बाबू तथा कई अन्य सज्जनों से बातचीत करने का अवसर मिल गया।

बिहार से लौटने पर मैं सम्मेलन कार्य के लिए ही मध्यप्रान्त तथा इन्दौर और ग्वालियर राज्यों के शिक्षाधिकारियों एवं सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं से मिलने गया। ग्वालियर में हिन्दी साहित्य सभा की ओर से एक डेप्यूटेशन ने मेरे साथ मान्यवर श्री मेहता जी की सेवा में उपस्थित होकर सम्मेलन के सम्बन्ध में आवश्यक निवेदन किया।

श्री दुर्गाशंकर नागर—इस यात्रा में मेरा उज्जैन भी जाना हुआ। यहाँ डाक्टर दुर्गाशंकर जी नागर से भेंट हुई। आप बड़े प्रेम से खासकर आध्यात्मिक और मानसिक चिकित्सा करते थे तथा 'कल्प-वृक्ष' के सम्पादक थे। प्रातःकाल से लेकर रात को सोने के समय तक आप विविध रोगियों को सान्त्वना देने तथा उनका आवश्यक उपचार करने में लगे रहते थे। शान्तिदायक विचारों के प्रचार में आप खूब

योग देते थे। आपने कई अच्छी पुस्तकों की रचना तथा प्रकाशन किया था।

ग्रंथमाला का विज्ञापन—पुस्तकों का विज्ञापन देने की न मेरी सामर्थ्य थी और न रुचि ही। तथापि कभी-कभी कुछ प्रसंग आ गया। कुछ पत्रों के सम्पादक इस कार्य में सहानुभूति रखने वाले मिलते गये और इन्होंने बिना शुल्क ही या नाममात्र का शुल्क लेकर विज्ञापन छापने की कृपा की। 'महारथी'-सम्पादक पंडित रामचन्द्र शर्मा ने विज्ञापन-छपाई का खर्च ही लिया, और वह भी पुस्तकों के रूप में।

प्रायः यह अनुभव हुआ कि ग्रन्थमाला के विज्ञापन से कुछ प्रत्यक्ष लाभ नहीं हुआ। शुल्क की दर बहुत रियायती होने पर भी इसमें जो खर्च हुआ, उतने की पुस्तकें नहीं बिकीं। इस प्रकार ग्रन्थमाला के विज्ञापन की मद में खर्च करना अपव्यय ही मालूम हुआ। सम्भव है कि इसका कारण यह हो कि विज्ञापन कम किया अर्थात् छोटे पैमाने पर किया गया,एक साथ कई पत्रों में नहीं दिया गया। यह भी हो सकता है कि विज्ञापन के लिए पत्रों का चुनाव ठीक से न करके सस्तेपन की ओर निगाह रखने से ऐसा हुआ हो।

गुरु-भाई को भेंट;—मार्च १९३८ में गुरुवर पंडित अयोध्या-प्रसाद जी ने अपने सबसे छोटे पुत्र गौतमप्रसाद के विवाह में सम्मि-लित होने के लिए मुझसे बहुत स्नेह पूर्वक अनुरोध किया। यह विवाह अगले मास होने वाला था। मैं सोचने लगा कि इस शुभ अवसर पर भाई गौतम को क्या भेंट करूँ। मेरे जैसा कलम का धंधा करने वाला व्यक्ति वस्त्र या आभूषणादि का उपहार देने में असमर्थ न हो तो भी वह इन्हें बहुत उपयुक्त नहीं समझता। मैंने भेंट के लिए कुछ पुस्तकें छाँटनी चाहीं, पर उसमें भी संतोष प्रतीत न हुआ। अन्ततः मैंने 'गाँव की बात' पुस्तक लिखी, जिसमें यह बताया गया कि गुरू जी तथा उनकी पत्नी ने गाँव के हितार्थ अपना जीवन किस प्रकार बिताया, और उससे क्या शिक्षा ली जा सकती है।

दो मित्रों का वियोग—मई १९३८ में मुझे दो सज्जनों का वियोग सहना पड़ा—श्री स्वामी आनन्दभिक्षु सरस्वती, तथा डाक्टर नगेन्द्र-कुमार दत्त का। भिक्षु जी के सम्बन्ध में पहले प्रसंगानुसार स्थान स्थान पर उल्लेख हो चुका है। आपके वृन्दावन रहने के समय तो मुझे आपकी बहुत सहायता एवं सहानुभूति मिली ही थी, बाहर रहने पर भी आपसे बहुमूल्य परामर्श मिलता रहा था। डाक्टर साहब का मुझसे कई वर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध था। आप मेरे परिवार की बीमारी में बहुत प्रेम और लगन से इलाज करते थे। आपके भरोसे मैं कई बार काफी समय निश्चिन्तता-पूर्वक बाहर रह सका। पिछले महीनों में तो आपने बड़े संकट के समय बहुत ही सहानुभूति-पूर्वक हमारी सेवा और चिकित्सा की थी।

संशोधन में पुस्तक का नाम ही बदल गया—प्रायः लेखक के लिए कोई पुस्तक लिखना जितना रुचिकर होता है, उतना उसका संशोधन नहीं होता। यही कारण है कि बहुत सी पुस्तकों के अगले संस्करणों में सामग्री उतनी नयी तथा ढंग से बैठायी हुई नहीं होती, जितनी होनी चाहिए। मुझे प्रायः अपनी पुस्तकों के संशोधन में काफी आनन्द आया है, और मैंने लगभग सभी पुस्तकों के नये संस्करणों को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से उनकी सामग्री में यथेष्ट परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है। हाँ, साधनों की कमी से, उसमें कसर रह गयी, यह दूसरी बात है।

जनवरी १९३९ में मैं 'भारतीय राष्ट्र निर्माण' का तीसरा संस्करण के लिए संशोधन करने में लग गया। यों तो इसका संशोधन पहले कर लिया गया था, पर अर्थाभाव के कारण उस समय पुस्तक छप न सकी थी। अब उस सामग्री को देखा तो उसमें और भी परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यहाँ तक कि नाम बदल कर 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' रखने का विचार हुआ। फिर तो पूर्वोक्त सामग्री इस नये नाम के अनुरूप करनी पड़ी।

कुछ ऐसा ही अनुभव थोड़े समय पहले निर्वाचन नियम' के सम्बन्ध में हुआ था, जिसका विषय बदल कर नाम 'निर्वाचन-पद्धति' किया गया था।

नवरत्न जी और रामनिवास जी शर्मा—मध्यप्रान्त के कई स्थानों में बहुत से सज्जनों से मेलजोल था, कुछ रिश्तेदारियाँ भी थी। इन्दौर में भी कई मित्र हो गये थे। इसलिए बहुधा वर्ष में एक यात्रा उधर की हो जाती थी। जून १९३८ में उधर से लौटते हुए मैं झालरा-पाटन भी गया। मान्यवर श्री गिरिधर शर्मा नवरत्न की सुपुत्री शकुन्तला कुमारी विशारद का कुछ समय से पत्र-व्यवहार था। नवरत्न जी का तो स्नेह था ही। जिस दिन (ता० १६ जून) मैं वहाँ पहुँचा शकुन्तला की एक बहिन का विवाह होकर चुका था, और वहाँ कितने ही पुरुष तथा स्त्री रिश्तेदार आये हुए थे। उनमें से कई एक ऐसे निकले जो ग्रन्थमाला की कुछ पुस्तकों का, विशेषतया भारतीय शासन का अवलो-कन कर चुके थे। श्री० नवरत्न जी के परिवार में मैं ने अच्छी विद्याभि-रुचि देखी, और उनके मकान को वास्तव में 'सरस्वती सदन' पाया।

झालरापाटन के पास ही ब्रिजनगर में श्री रामनिवास शर्मा भूत-पूर्वक सम्पादक 'सौरभ' थे। मैं उनसे मिलने गया। उनसे मेरी प्रथम ही भेंट थी. वे बड़े प्रेम से मिले, और उन्होंने मेरा बड़ा आदर सत्कार किया। बहुत वर्ष पहले. जब कि मैं 'प्रेम' का सम्पादक था, उनका मेरा कुछ सम्बन्ध रहा था। 'सौरभ' और 'प्रेम' का परस्पर में परिवर्तन था। मैंने 'सौरभ' के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ 'प्रेम' में लिखी थीं, उनकी शर्मा जी को बहुत ही मधुर स्मृति थी। आप से विविध साहित्यिक विषयों पर खूब खुलकर बातचीत करने का आनन्द प्राप्त हुआ।

जयन्ती उत्सव की योजना और कार्य—सन् १९३९ के आरम्भ से ही मैं यह सोचने लग गया था कि ग्रन्थमाला का पच्चीसवाँ वर्ष निकट आता जा रहा है। माला के पन्द्रहवें वर्ष के उत्सव के बाद

कोई उत्सव नहीं हुआ, अब जयन्ती उत्सव मनाया जाए। जयन्ती तक का मुख्य कार्यक्रम यह रखा गया:—

१—ग्रन्थमाला की पुस्तकों की संख्या पचीस करने का प्रयत्न किया जाय; इस समय २३ पुस्तकें थी।

२—ग्रन्थमाला सम्बन्धी 'साहित्यिक अनुभव' पुस्तक तैयार की जाय।

३—दो सौ संस्थाओं को ग्रन्थमाला का एक-एक पूरा सेट आधे मूल्य में दिया जाय।

यह कार्यक्रम सामने रखने के साथ यह भी विचार किया कि जयन्ती वर्ष का समय जहाँ तक बन आए, ग्रन्थमाला के ही कार्य में लगाया जाय। इसलिए कई अन्य कार्य तत्काल लाभदायक होने पर भी स्वीकार न किये गये।

इस समय कई पत्रों में ग्रन्थमाला सम्बन्धी सम्पादकीय नोट प्रकाशित हुए। कितने ही शिक्षा और साहित्य प्रेमियों ने लेखादि लिखकर इस कार्य से अपने सहानुभूति का परिचय दिया। इस प्रकार माला का अच्छा प्रचार हुआ। मैंने अपना (खासकर ग्रन्थमाला का) आत्मचरित लिखना शुरू कर दिया और अनेक बाधाओं के होते हुए भी सन् १९४० तक की सामग्री का संकलन कर लिया।

विशेष वक्तव्य—जयन्ती-उत्सव की योजना करने से यह कार्य तो हुआ, पर उत्सव न हो सका। कई कारण हुए। मुख्य यही समझना चाहिए कि ऐसे कार्य के लिए स्वयं मेरे मन में यथेष्ट उत्साह या विशेष रुचि न थी। दशवर्षीय और पंचदश-वर्षीय उत्सव खासकर स्वामी आनन्द-भिक्षु सरस्वती के अग्रसर होने से हो सके थे। इस समय ऐसे सज्जन का सहयोग प्राप्त न था जो आगे बढ़कर इस काम को उठाता और मुझसे भी इसका काम लेता। अस्तु, उत्सव स्थगित रहा। कुछ समय बाद मेरा वृन्दावन-वास भी समाप्त होने को आया, पर उसकी बात आगे कही जायगी। पहले इस समय तक के साहित्यिक जीवन सम्बन्धी कुछ अन्य बातों पर प्रकाश डालना है।

—:—

तेरहवाँ अध्याय

लेख, सम्वाद् और पुस्तक-पत्रावलोकन

उत्तम पुस्तकें नरक को भी स्वर्ग बना देंगी। —तिलक

कोरे कागज के सामने घंटों चुपचाप बैठना और लम्बी-लम्बी सांसे खींचना क्या मानी रखता है, यह मैं जानती हूँ। एक-एक शब्द के लिए कभी-कभी कैसी खीझ, पीड़ा और निराशा होती है, यह मैं जानती हूँ। एक अच्छा सा वाक्य निकल आने पर कितनी राहत, खुशी और उत्फुल्लता मन में होती है, इसका भी मुझे अनुभव है।

—ज्योतिर्मयी

(१) लेख

लेखन-कार्य का आन्तरिक झलक—पिछले अध्यायों में, पुस्तक-लेखन या पत्र-सम्पादन सम्बन्धी जो कार्य किया गया, उसका परिचय दिया है। उस कार्य को करते समय की मनोदशा का चित्र उपस्थित नहीं किया गया। सामने कागज रखकर तथा कलम हाथ में लेकर बैठना और यह इन्तजार करना कि कुछ खास विचार हमारी पकड़ में आ जाएँ—यह एक अजीब अनुभव है। कभी-कभी तो कितनी ही देर तक हमारा मनचाहा विचार नहीं आता, या आता है तो जिस रूप में हम चाहते हैं, उस रूप में नहीं आता। उसे किसी तरह अपने अधीन करके उसे संवारने की चेष्टा की जाती है—इस बीच कभी-कभी मूल विचार ही हमारे पास से निकल भागता है; अथवा इतने विचार एक साथ आ

घेरते हैं कि किसे लें और किसे छोड़ें—इसका निर्णय करना ही कठिन हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि एक लेख का खासा हिस्सा लिखा जा चुकने पर कोई ऐसा विचार आ खड़ा होता है कि उसके ही स्वागत में सारी शक्ति जुटा देनी होती है; इससे पहले के विचारों को जान-बूझ कर छोड़ देना होता है अथवा उनका इस नये अतिथि से मेल बैठाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें लेखक की मनोदशा समय समय पर बदलती रहती है; हर्ष, खेद, संताप, झुंझलाहट, प्रसन्नता आदि के भाव मन में आते और जाते रहते हैं। यह कार्य इतनी जल्दी-जल्दी होता है कि स्वयं लेखक के पास इस का कुछ लेखा-जोखा नहीं रहता। पाठकों का तो लेख के अन्तिम रूप से मतलब रहता है, जिसे वे अपना-अपना रुचि के अनुसार अच्छा, बुरा, निकम्मा, वाहियात, बहुत बढ़िया, आदि का प्रमाणपत्र देने में स्वतन्त्र हैं। अस्तु, मैं यहाँ इस विषय की ब्योरेवार बातों में न जा कर अपने लिखे लेखों का साधारण परिचय दे रहा हूँ।

लेखों से पुस्तक, और पुस्तक से लेख—पत्र-पत्रिकाओं में लेख भेजना मैंने सन् १९११ से आरम्भ किया था। सन् १९१५ में मैं एक लेखमाला (हमारे पाठ्य विषय) लिख चुका था, जिसमें कुछ अन्य लेखों के मिलने से भारतीय ग्रन्थमाला की दूसरी पुस्तक (भारतीय विद्यार्थी विनोद) का निर्माण हुआ। इसके बाद जो लेख लिखे गये, उनका लक्ष्य कोई खास पुस्तक तैयार करना न था; यों कुछ लेखों का उपयोग संशोधित रूप में पुस्तकों में हो गया। 'प्रेम' का सम्पादन करते समय जो लेख उसमें दिये गये थे, उनमें से कुछ के पूर्ण या आवश्यक अंशों का संग्रह 'भारतीय चिन्तन' में हुआ।

पीछे जाकर कभी-कभी दूसरी बात हुई। जब कोई पुस्तक छपने लग जाती तो उसके छपे हुए अंशों से स्वतन्त्र लेख तैयार किये जाते और विविध पत्र-पत्रिकाओं में भेज दिये जाते। प्रायः सम्पादकों को अर्थशास्त्र और राजनीति सम्बन्धी लेखों की कमी रहती थी, इसलिए मेरे लेखों को

वे सहर्ष स्थान देते। अपराध-चिकित्सा, धन की उत्पत्ति, भारतीय जागृति (तीसरा संस्करण) और भारतीय अर्थशास्त्र (दूसरा संस्करण) आदि के बहुत से लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपे।

लेख लिखने की मर्यादा; विशेषांकों के लिए लेख—'प्रेम' का सम्पादन करते समय मेरा कितने ही सम्पादकों से सम्पर्क हुआ, उनके पत्र-पत्रिकाओं में लेख देने का अवसर कम ही मिला। तथापि समय-समय पर कुछ सम्पादकों की माग पूरी करनी ही पड़ती। यह भी विचार रहता कि मुझे भी आगे-पीछे उनकी सहानुभूति और सहयोग की आवश्यकता होगी। इस प्रकार कभी-कभी कोई लेख लिखा जाता रहा। 'प्रेम' का सम्पादक न रहने पर भी मेरे पास कितनी ही पत्र-पत्रिकाएँ आती रहीं। कुछ सम्पादक लेख मिलने की आशा से भी मेरे पास अपनी पत्र-पत्रिका भेजते थे। ज्यों-ज्यों ऐसे पत्र-पत्रिकाएँ अधिक आने लगीं, सबकी यह माँग पूरी करना कठिन होता गया।

मैं यह विचार रखता था कि अपने पास आने वाले प्रत्येक पत्र-पत्रिका में मैं साल भर में एक लेख दूं। इसका अच्छा उदाहरण 'कल्याण' है। श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार से भेंट होने के बाद वे मेरे पास 'कल्याण' नियमित रूप से भेजने लगे। यही नहीं, अनेक बार उन्होंने गीता प्रेस की पुस्तकें भी भिजवाने की कृपा की। यह होते हुए भी उन्होंने बहुत समय तक मुझसे लेख की माँग न की। कृतज्ञता की भावना से मैं उनकी सेवा में स्वयं ही लेख भेजने लगा। इस पत्र का एक विशेषांक प्रतिवर्ष निकलता ही था, उसी अवसर पर लेख भेजने का विचार रखा गया। यह ध्यान रखा कि यद्यपि विशेषांक की पृष्ठ-संख्या बहुत अधिक होती है, आखिर उसकी एक सीमा होती है और प्राप्त लेखों की दृष्टि से कम ही रहती है: इसलिए लेख यथा-सम्भव छोटा ही भेजा जाए, जिससे उसके प्रकाशन के लिए स्थान मिलने में विशेष असुविधा न हो। अस्तु, 'कल्याण' में प्रकाशित मेरे कुछ लेख ये हैं—

शिव और अर्थशास्त्र (शिवाङ्क, सम्वत १९९०)
शक्ति पूजा (शक्तिअङ्क, ,, १९९१)
निष्काम कर्मयोग को कब समझेंगे ? (योगाङ्क, ,, १९९२)
प्रारब्ध और पुरुषार्थ का मेल (वेदान्ताङ्क, ,, १९९३)
सन्त और राजनीति (सन्त अङ्क, ,, १९९४)
रामचरित मानस और राष्ट्र निर्माण (मानसाङ्क, ,, १९९५)
गीता और राजनीति (गीतातत्वाङ्क, ,, १९९६)
साधक और स्थिरता (साधनाङ्क, ,, १९९७)

जहाँ तक सम्भव होता, मैं अन्य पत्र पत्रिकाओं के भी विशेषांकों के लिए लेख भेजने का प्रयत्न करता था। जो पत्र साल में कई-कई विशेषांकों के लिए लेख माँगता उसे सन्देश रूप थोड़ी सी पंक्तियाँ भेजी जातीं। कुछ पत्रों के विशेषांकों में दिये हुए लेख इस प्रकार हैं :—

श्रीमद्भागवत का अध्ययन (श्रेय—श्रीमद्भागवतांक)
समाज की बल-वृद्धि (प्रकाश, विजयांक १९३३)
सच्चे स्वयंसेवकों की आवश्यकता (,, ,, १९३४)
मनुष्यों की एक असमानुषिकता (राजस्थान, बेगारअंक अगस्त १९३७)
जनता की योग्यता का धरातल ऊंचा हो (योगी, कांग्रेस अंक १९४०)
स्वदेशी और विश्व-शान्ति (नवराजस्थान, बसन्त पंचमी, सवत १९८२)
धन वितरण की समस्या (श्री वेंकटेश्वर समाचार, दीपमालिकांक)
क्या भारतवासी गरीब हैं ? (भारतमित्र ,,)
युद्ध और आर्थिक प्रश्न (विश्वमित्र ,,)
ग्राम सुधार और साहित्य (आरोग्यमित्र, विशेषांक)
भारतवर्ष की एकता और ग्रामजीवन में शिक्षा (देहाती दुनिया, कांग्रेस अंक)
शुद्धि और हमारा अहंकार भाव (शुद्धि समाचार, बलिदान अंक)

सामाजिक लेख—मेरे साहित्यिक जीवन में प्रवेश करने पर जल्दी ही मेरा सम्बन्ध 'माहेश्वरी' पत्र से होगया था और मैंने उसमें माहेश्वरी समाज सम्बन्धी कितने ही लेख लिखे। पीछे सन् १९३३-३४ में उसका

सम्पादन करते समय भी उसके लिए सामाजिक लेख लिखने का प्रसंग आया। वैसे सामाजिक विषयों की ओर मेरा ध्यान कम रहा। और इन विषयों पर जो लिखा, वह समाज के व्यापक स्वरूप को ध्यान में रख कर लिखा गया। कुछ उदाहरण ये हैं :—

युगान्तर और समाज-सुधार	युगान्तर, सितम्बर १९३३
सुधार का मार्ग	अग्रवाल, जनवरी १९३४
सुधारों की गति इतनी मन्द क्यों ?	,, , अप्रेल १९३६
सुधारकों के सुधार की आवश्यकता	माहेश्वरी, ७ अप्रेल १९३८

ग्राम-सुधार सम्बन्धी लेख—ग्राम-जीवन की ओर मेरा बहुत आकर्षण रहा है; समय-समय पर अपने गांव या किसी भी गांव जाने की इच्छा रही है। इससे इस विषय के लेखों के पढ़ने तथा लिखने का कुछ क्रम रहा। 'दीपक' (अबोहर) के लिए मैंने खासकर इसी लिए लिखना आरम्भ किया कि मैं ग्राम सम्बन्धी अपने कुछ विचार प्रकट कर सकूं। इस पत्र का विज्ञापन-त्याग और सात्विक सामग्री मुझे पसन्द थी। फिर, इस का पंजाब से निकलना भी एक अच्छे साहस का काम था। अस्तु, इसमें प्रकाशित मेरे कुछ लेख 'गांव की बात' पुस्तक में संकलित किये गये।

साहित्यिक यात्रा सम्बन्धी लेख—किसी साहित्यिक यात्रा सम्बन्धी लेख पत्रों में उसी दशा में दिये जा सके, जबकि उस यात्रा के बाद घर लौटते ही लिखने की सुविधा हुई। जब ऐसा न हुआ तो उसका लिखा जाना प्रायः स्थायी रूप से स्थगित हो गया। यही कारण है कि यद्यपि मैंने साहित्यिक यात्राएँ अनेक कीं, पत्रों में केवल सात यात्राओं के सम्बन्ध में लिखा। ऐसे लेखों के उदाहरण-स्वरूप एक लेख अगले अध्याय में दिया जाएगा।

साहित्यिक संस्थाओं तथा साहित्यिक आदर्श आदि के सम्बन्ध में भी समय-समय पर कुछ विचार प्रकट किये गये हैं, इनका कुछ परिचय आगे जाकर मिल जाएगा।

स्थानीय विषयों के लेख—'प्रेम'-सम्पादन के समय तो स्थानीय विषयों के लेख लिखे ही गये। उन्हें छोड़ कर मेरी रुचि उनकी ओर बहुत कम रही। यों वृन्दावन में प्राकृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा कलात्मक सामग्री अनेक लेखों का विषय हो सकती थी। इसके अतिरिक्त कुछ स्थानीय घटनाएँ हमेशा ही ऐसी हुआ करती हैं, जिन पर प्रकाश डाला जाय। मैंने उनपर कम ही लिखा। किन्तु मैं उनकी सर्वथा उपेक्षा भी न कर सका। कभी-कभी उन पर कुछ लिखा ही गया। ऐसे लेखों के उदाहरण ये हैं:—

मथुरा को आदर्श नगर बनाइए	'प्रकाश', मथुरा
प्रेम महाविद्यालय और सरकार	श्रीवेंकटेश्वर समाचार, प्रताप, कर्मवीर, अर्जुन आदि ग्यारह पत्रों में, अक्तूबर १६३३
प्रेम महाविद्यालय: सरकार ने अभी तक वापिस नहीं किया	स्वराज्य आदि, जुलाई १६३४
मथुरा जिले के बेताज बादशाह; स्व० बाबू नारायणदास बी० ए०	दैनिक अर्जुन
सन् १६३२-३३ में वृन्दावन (म्युनिसिपल रिपोर्ट पर विचार)	"

ऊपर जिन विषयों के लेखों की चर्चा की गयी है, उनके अतिरिक्त आवश्यकता या परिस्थिति के अनुसार अन्य फुटकर विषयों के लेख भी समय-समय पर लिखे जाते रहे। उनके ब्योरे की आवश्यकता नहीं।

लेखों का पारिश्रमिक—लेखों का पारिश्रमिक देने की बात पहले बहुत कम थी, अब धीरे-धीरे बढ़ रही है। अधिकांश पत्र अब भी पारिश्रमिक नहीं देते। जिन पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुद्ध सेवा-भाव से हो, अथवा जिन्हें खासकर प्रारम्भ-काल की आर्थिक कठिनाइयों का बहुत सामना करना पड़ रहा हो उसमें लेखकों को त्याग-भाव से योग देना चाहिए। पर जो पत्र व्यावसायिक दृष्टि से निकाले जाते हों, और

जिन्हें काफी आय होती हो, उनका लेखकों को पारिश्रमिक न देना क्षम्य नहीं कहा जा सकता। लेखकों का पारिश्रमिक लेना उचित ही है। अस्तु, मैंने पारिश्रमिक के लिए बहुत कम लिया। मैं अधिक लेख लिखने में असमर्थ ही था। और, यदि मैं किसी पत्र में साल भर में एक दो लेख भेजता तो उसके उपलक्ष्य में उस पत्र का मेरे पास बराबर आते रहना ही मेरे लिए बहुत था। हाँ, 'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' पुस्तक के कई लेख 'त्यागभूमि' और 'मनोरमा' में भेजे तो मैंने उनका पारिश्रमिक लिया। 'हिन्दी भाषा में अर्थशास्त्र साहित्य' लेख 'गंगा' में छपा उसका भी पारिश्रमिक लिया गया। मुझसे आर्थिक और नागरिक विषयों के लेख, पारिश्रमिक देकर लिखवाने का काम सबसे पहले श्री युधिष्ठिर भार्गव, सम्पादक 'जयाजी-प्रताप' ने किया। मैंने उस पत्र के विशेष तथा साधारण अंकों के लिए कई लेख लिखे।

(२) सम्वाद

सम्वादों का महत्व—'प्रेम' का सम्पादन करते समय मेरे ध्यान में यह बात आयी थी कि पत्र को किसी बस्ती में लोकप्रिय बनाने का उपाय यह है कि पत्र में वहाँ के सम्वाद प्रकाशित किये जाएँ। सन् १९३१-२ के आन्दोलन में यह अनुभव हुआ कि जनता को आन्दोलन के लिए सतर्क और चेतन बनाये रखने के लिए पत्रों में आन्दोलन सम्बन्धी सम्वाद यथेष्ट समय और समुचित रूप में प्रकाशित किये जाते रहने चाहिएँ। इस आन्दोलन के समय स्थानीय सम्वाद भेजने का कार्य मेरे सुपुर्द कर दिया गया था, और, मैं इसे अस्वीकार न कर सका था। यद्यपि मैं अनेक लेख और कुछ पुस्तकें भी लिख चुका था, तथा पत्र-सम्पादन का भी अनुभव प्राप्त किये हुए था, सम्वाददाता का कार्य करने में, आरम्भ में मुझे कुछ कठिनाई प्रतीत हुई। परन्तु कार्य करना था, उसे करता रहा। दो-तीन सप्ताह बाद कठिनाई दूर हो गयी। मैंने संवाद, आन्दोलन के सम्बन्ध में तो भेजे ही, सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी अन्य प्रकार के भी भेजने का विचार रखा। मैं बात यथा-सम्भव

सत्य ही लिखता था, प्राय: हरेक बात का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता था, कोई बात बढ़ा-चढ़ा कर नहीं लिखता था। कहना नहीं होगा कि सम्वादों का काम ठीक-ठीक होने से आन्दोलन चलाने में और जनता की दृढ़ता बनाये रखने में अच्छी सहायता मिली।

सम्वादों के लिए पत्र का चुनाव—सम्वाद किस पत्र में प्रकाशित कराये जाएँ, यह प्रश्न मेरे सामने शीघ्र ही आगया था। उन दिनों वृन्दावन में, दैनिकों में खासकर 'अर्जुन' और 'प्रताप' आते थे। इनमें से दैनिक अर्जुन का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार था। मेरी सहानुभूति 'प्रताप' के प्रति कुछ विशेष थी। मैंने इस पत्र का यहाँ प्रचार बढ़ाने के हेतु इसमें भी स्थानीय सम्वाद भेजना आरम्भ किया। परन्तु शीघ्र ही मुझे अपना विचार बदलना पड़ा। 'प्रताप' यहाँ देर से आता था, कभी कभी कानपुर से आने वाली रेलगाड़ी का ठीक मेल न होने से प्रताप के बंडल एक-एक दिन लेट हो जाते; वे मथुरा पड़े रहते, और अगले दिन सवेरे की गाड़ी से आते, अथवा यदि शाम की गाड़ी से भी आते तो पाठकों में समुचित रूप से वितरण न हो पाते; इसके विपरीत 'अर्जुन' यहाँ पाठकों को सवेरे ही मिल जाता था। वैसे भी वृन्दावन के सम्वाद प्रताप में इतनी जल्दी छपकर न आते जितनी जल्दी 'अर्जुन' में आ जाते। अस्तु, मुझे यही निश्चय करना पड़ा कि सम्वाद, विशेषतया 'अर्जुन' में भेजे जाएँ।

सम्वाद और खुफिया पुलिस—क्रमशः खुफिया पुलिस को यह चिन्ता हुई कि किसी प्रकार सम्वाददाता का पता लगाया जाए, तथा सम्वादों में रुकावट डाली जाए। उन दिनों डाक 'सेंसर' तो होती ही थी। दो एक बार मेरा भेजा सम्वाद प्रकाशित नहीं हुआ। अन्ततः मैंने एक चाल चली, यहाँ से सम्वाद पेकेट के रूप में न भेजकर पत्र के रूप में तो भेजा ही, साथ ही उसे सीधा सम्पादक के पास न भेजकर देहली के दूसरे व्यक्ति के द्वारा भेजा। मेरी युक्ति सफल हुई, सम्वाद जोर का

था, वृन्दावन में 'अर्जुन' की वह प्रति आने पर काफी हलचल मच गयी।

संवाददाता का नाम देने की बात—यद्यपि अनेक सम्वाद बिना सम्वाददाता के नाम छपते हैं, पर प्राय: इसके मूल में सम्वाद-दाता के साहस की कमी या संकट या निन्दा आदि से बचने की इच्छा होती है। राष्ट्रीय आन्दोलन की तेजी के समय में (अपना नाम प्रकट किये बिना ही) सम्वाद भेजना था। पीछे मैंने सम्वाद भेजना बन्द कर दिया। पर कुछ समय बाद मैंने देखा कि 'अर्जुन' में कुछ सम्वाद अनुत्तरदायी या दल विशेष के, अथवा अराष्ट्रीय विचार वाले व्यक्तियों के भेजे छपते हैं। कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ कि सम्वाद भेजने का काम तो केला जी करते हैं, उनके ऐसे विचार कैसे हो गये। अब, मुझे परिस्थिति पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत हुआ, पर बार-बार अपनी सफाई देना मुझे ठीक नहीं जचा। अत: मैंने दूसरा उपाय निकाला। मैं भी कुछ सम्वाद भेजने लगा, और उन्हें अपने नाम से देने लगा। इससे लोगों को यह ज्ञात हो गया कि केला जी तो अपने नाम से सम्वाद भेजते हैं, जिन सम्वादों पर किसी का नाम नहीं, वे केला जी के नहीं हैं। इस प्रकार गलतफहमी का कोई अवसर न रहा।

(३) पुस्तकावलोकन

पुस्तकें पढ़ने की रुचि—मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन में पाठ्य-क्रम से बाहर की पुस्तकें पढ़ने का शौक हो गया था। स्कूल में पढ़ते समय ही अंगरेजी की पुस्तकें देखने की बात पहले कही जा चुकी है। कालिजों में तो अंगरेजी की पुस्तकों की प्रधानता होती ही है। इस प्रकार वहाँ भी अंगरेजी साहित्य ही देखने का प्रसंग आया। प्रारम्भ कहानियों की पुस्तकों से हुआ, पर जल्दी ही रुचि बदल गयी। नीति, विज्ञान, जीवन चरित्र आदि की ओर आकर्षण हुआ। राष्ट्र-भाषा की ओर झुकाव हो जाने पर हिन्दी का साहित्य देखा जाने लगा।

पुस्तकों का चुनाव—पहले ऐसा कुछ विचार नहीं किया गया कि

किस खास विषय की पुस्तक देखनी है; जो मिल गयी, वही पढ़ने की इच्छा रही। हाँ, लम्बी कहानियाँ, उपन्यास, नाटक आदि बहुत कम पढ़े गये। हिन्दी की पुस्तकों में आरम्भ में खासकर अभ्यूदय प्रेस, इंडयन प्रेस (प्रयाग), नागरी प्रचारणी सभा (काशी), 'सत्य सनातन धर्म,कार्यालय (कलकत्ता), हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय (बम्बई), आदि की पुस्तकें देखने में आयीं। भजन, कविता और राष्ट्रीय भावों का साहित्य भी रुचिकर प्रतीत हुआ। ग्रन्थमाला का कार्य आरम्भ होने पर तो जिस विषय की पुस्तक लिखनी होती, उसी विषय सम्बन्धी साहित्य अधिक देखना स्वाभाविक था। ग्रंथमाला का क्षेत्र खासकर आर्थिक और राजनैतिक था, किन्तु समय-समय पर अन्य विषयों की पुस्तकें भी देखी गयीं। हाँ, बहुत सी पुस्तकों को पूरी न पढ़ कर जहां तहां से ही देखा, तथा भूमिका, विषय सूची और प्रस्तावना आदि पढ़ कर ही संतोष किया।

पुस्तकों के नोट—अनेक बार किसी पुस्तकालय या किसी मित्र से कोई अच्छी पुस्तक पढ़ने को मिल गयी तो उसका सारांश नोट करके रखा गया। इस प्रकार मेरे पास कितनी ही पुस्तकों की कुछ ब्योरेवार विषय-सूची तथा अन्य खास-खास बातें संकलित हो गयीं। उद्धृत कविताओं की तो एक कापी अलग ही बन गयी। इन नोट बुकों में पीछे पत्र-पत्रिकाओं के भी महत्वपूर्ण वाक्य या लेखांश उद्धृत किये जाने लगे। पीछे जब कभी मुझे इन नोट-बुकों पर नजर डालने का अवसर मिला तो बहुत-सी बातों की याद ताजी हो गयी। कई बार मुझे जिस विषय की पुस्तक लिखने का काम होता, उस विषय के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी विचार अपनी नोट-बुकों में मिल जाते और उनके आधार पर मुझे अपनी रचना में कुछ अच्छे उद्धरण देने की सुविधा सहज ही मिल जाती। ये नोट बुकें मेरे लिए अच्छी उपयोगी सिद्ध हुईं। खेद है, इन्हें सुरक्षित रखने की यथेष्ट व्यवस्था न हुई।

मेरा पुस्तक-संग्रह—हिन्दी पुस्तकों के कितने ही प्रकाशक और विक्रेता मुझे अपनी पुस्तकें बदले में देने के लिए उत्सुक रहते थे। मैं उनकी कुछ पुस्तकों की एक-एक प्रति मंगा लेता या गुरुकुल (वृन्दावन) के वार्षिकोत्सव पर ले लेता। इसमें मेरी दृष्टि यह रहती कि मेरी पुस्तकों की नमूने की प्रतियाँ दूसरों के पास चली जाएँ और मुझे अपने पढ़ने के लिए कुछ उपयोगी साहित्य मिल जाए। मेरे पास जो पुस्तकें आतीं उनके बिकने का कभी न कभी कुछ प्रसंग आ ही जाता, और यदि वे न भी बिकतीं तो मुझे वे विशेष भार-रूप न होतीं। अस्तु, मेरे पास हिन्दी की कई बार अनेक अच्छी-अच्छी पुस्तकें आयीं; अधिकांश पुस्तकें परिवर्तन में आयीं तो कितनी ही मुझे अपने मित्रों से भी प्राप्त हुईं। बात यह थी कि मैं अपनी पुस्तकों की दूसरों को भेंट करने में यथा-सम्भव कंजूसी नहीं करता था, सोचता था कि 'घर की खेती' है, देने से कमी न होगी, कुछ प्रचार ही होगा। फिर, मेरे मित्र भी अपनी रचनाएँ मेरे पास भेजते रहते थे।

अर्थशास्त्र, राजनीति और संस्कृति सम्बन्धी अंगरेजी की पुस्तकें तो खरीदी भी जाती थीं (रिपोर्टें आदि दूसरों से मांग कर काम चलाया जाता था)। कुछ पुस्तकें समय-समय पर मित्रों से मिलती रहती थीं। दो बार कुछ इकट्ठी ही पुस्तकों की प्राप्ति हुई। श्री दामोदरदास राठी के (दत्तक) पुत्र श्री विट्ठलदास ने मुझे राठी संग्रहालय की अच्छी उपयोगी पुस्तकें दीं; और मित्रवर दयालदास चौधरी ने श्री किशनलाल गोयनका से दिलवायीं। इनमें कई पुस्तकें ऐसी थीं जिनके आधार पर मैंने हिन्दी में लिखने का विचार किया था। यद्यपि मैं इनमें से अधिकांश को देख गया, पर इनका विशेष उपयोग न कर सका। आखिर जब ये मेरे पास खराब होने लगीं और मुझे रुपये की जरूरत हुई तो मैं इन्हें बेचने को मजबूर हुआ। इनमें से कितनी ही पुस्तकें प्रेम महाविद्यालय ने और कुछ, पीछे म्युनिसिपल हाई स्कूल (अब कालिज) ने ले लीं।

हिन्दी और अंगरेजी की जितनी पुस्तकें मेरे पास आयीं, यदि वे सब रखी जातीं तो मेरा एक अच्छा पुस्तकालय बन जाता, परन्तु आर्थिक आवश्यकताओं के कारण मैं उन्हें यथा-सम्भव बेचता रहा। इससे मेरे पास विशेष संग्रह नहीं हो पाया। बाहर के आदमी मेरी अर्थ-शास्त्र और राजनीति आदि की रचनाओं को देखकर यह कल्पना करते रहे हैं कि केला जी के पास कोई बहुत बड़ा पुस्तकालय होगा। बहुत कम आदमी यह अनुमान कर सके हैं कि मैंने अन्य पूंजी की तरह पुस्तक-पूंजी की भी थोड़ी सी ही मात्रा से अपना काम चलाया है।

पुस्तकावलोकन का प्रभाव—पुस्तकें अपने पाठकों के मन पर धीरे-धीरे प्रभाव डालती रहती हैं, अनेक बार आदमी को उस प्रभाव की जानकारी भी नहीं होती। जैसा पहले कहा गया है, मैंने अपने शिक्षा-काल में पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त अधिकतर अगरेजी की ही पुस्तकें देखीं। प्रारम्भ में जो पुस्तकें पढ़ने में आयीं, उनमें टाड की 'स्टूडेन्ट्स मेनुअल' बहुत अच्छी मालूम हुई। इससे नियमित जीवन बिताने, समय-विभाग बनाकर हर रोज उसके अनुसार काम करने और डायरी लिखने की प्रवृत्ति हुई। यह पुस्तक भाई किशनलाल जी को बहुत प्रिय थी, इसी से मुझे इसके पढ़ने की प्रेरणा मिली। 'आर्कीटेक्ट्स आफ फेट' (भाग्य-निर्माता) का भी मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसमें एक अध्याय है 'वांटेड—ए मेन' (आवश्यकता है—मनुष्य की)। इसके प्रसंग में मुझे अकसर उर्दू कवि की ये पंक्तियां याद आती रही हैं—

मर्दों से गो यह भरी सर जमीं है।
वले देखने को इनसान नहीं है॥

स्वामी राम (रामतीर्थ) के लेखों की इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है, कि यह बहुत-कुछ उनका ही प्रभाव था कि मैंने इंटर (एफ० ए०) पास करने के तीन साल बाद बी० ए० की पढ़ाई करने का निश्चय किया। स्वामी राम के इस वाक्य ने भी मेरे हृदय में

बहुत जगह की—"आवश्यकता है, सुधारकों की—दूसरों के नहीं, स्वय अपने ।"

जैसा पहले बताया जा चुका है स्वामी सत्यदेव जी की 'अमरीका भ्रमण' आदि पुस्तकों ने मुझे विदेश-यात्रा के लिए तैयार कर दिया था; पीछे संयोग से वह यात्रा स्थगित हो गयी ।

रामायण महाभारत की कथाएँ मैंने बचपन में ही सुनी थीं । बड़ा होने पर यह साहित्य देखने का अवसर मिला । एक बार दुबे जी के साथ चित्रकूट गया, वहाँ रामायण पाठ किया । राम के वनवास का विचार करके जी भर आता है । गीता तो मुझे इतनी आकर्षक प्रतीत हुई कि मैंने उसके कुछ श्लोक छांट कर एक कापी में नोट कर लिए, जिससे बारबार उन्हें आसानी से देखा जा सके ।

गांधी जी के खासकर राजनैतिक आन्दोलन सम्बन्धी विचारों को तो मैंने यथा-समय ही ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था, उनका पीछे प्रसंगानुसार प्रचार भी किया । पर उनके आर्थिक कार्यक्रम तथा अन्य सर्वोदयी विचारों की ओर विशेष ध्यान मैंने बहुत समय बाद दिया, इसका विचार आगे किया जाएगा ।

(४) पत्रावलोकन

पत्रावलोकन का शौक; मुख्य उद्देश्य—पत्र पत्रिकाएँ पढ़ने का शौक सन् १६१० से हुआ । कुछ समय के बाद ऐसा हो गया कि बिना अखबार देखे चैन नहीं पड़ती । आरम्भ में पत्रों को देखने का कोई खास उद्देश्य न था । जो भी पत्र मिल जाता उसे ही देख डालता । उस समय मुझे पत्र इने-गिने ही मिलते थे । पीछे जब ग्रंथमाला का कार्य कुछ बढ़ा तो मुझे खासकर अपने विषयों की जानकारी ताजी बनाये रखने के लिए ऐसे पत्रों को देखने की विशेष आवश्यकता हुई, जिनमें उन विषयों सम्बन्धी सामग्री हो । ज्यों-ज्यों हिन्दी संसार में मेरा परिचय बढ़ने लगा, मेरे पास आने वाले पत्र-पत्रिकाओं की संख्या भी बढ़ने लगी ।

जब मैं 'प्रेम' का सम्पादक था (१६२०-२२), बहुत से पत्र-पत्रिकाएँ मेरे पास परिवर्तन में ही आती थीं। उस समय मैं उन्हें विशेषता इस दृष्टि से देखता कि किसी विषय के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न सम्पादकों का क्या मत है, और वे अपने मत को किस प्रकार, किन शब्दों में व्यक्त करते हैं। प्राप्त होने वाले अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय लेख तथा टिप्पणियां पढ़ने की मेरी बहुत रुचि होती। इसके अतिरिक्त मैं उनमें प्रकाशित (पुस्तकों की) समालोचनाएँ भी अवश्य देखता। इससे मुझे मालूम होता रहता कि किस-किस विषय की पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है, और उसमे क्या गुण-दोष हैं। इनसे मुझे अपनी भावी रचनाओं का विषय निर्धारित करने में सहायता मिलती, कितनी ही बार नयी पुस्तकों का विषय सूझ जाता, अथवा अपनी प्रस्तावित पुस्तक के विषय की पुस्तक छपी देखकर मैं अपनी योजना में परिवर्तन कर देता।

सम्पादकों से सम्बन्ध—'प्रेम' का सम्पादक रहने के समय जिन सम्पादकों से विशेष सम्बन्ध हो गया था, उनमें से कई एक से पीछे भी सम्बन्ध बना रहा। मैं यह तो चाहता ही रहता कि मेरे पास अधिक से अधिक पत्र-पत्रिकाएँ आएँ। जब कभी कोई सम्पादक मुझसे लेख मांगता, मैं उनसे अपनी यह इच्छा प्रकट कर देता कि मेरे पास उनका पत्र आते रहना चाहिए। प्रायः मेरी यह मांग स्वीकार होती रही। वृन्दावन में कर्मवीर, स्वराज्य, प्रताप, भूगोल, योगी, जनता, श्रीवेंकटेश्वर-समाचार आदि मुझे बराबर मिलते रहे। विशाल भारत, माधुरी, दीपक, वीणा, भारतमित्र, नवशक्ति, अखण्ड भारत आदि ने भी बहुत समय दर्शन दिये। मेरे पास दैनिक, साप्ताहिक, मासिक आदि मिला कर कभी कभी तो तीस-तीस पत्र तक आते रहे हैं। कुछ पत्र मैं केवल डाक-व्यय अथवा रियायती या पूरा शुल्क देकर भी मंगाता रहा हूँ।

पत्र-पत्रिकाओं का विशेष उपयोग—उनके 'कटिंग'—मैंने जिल्द बंधा कर तो अधिकतर मासिक या त्रैमासिक पत्रिकाएँ या कुछ

विशेषांक ही रखे हैं पर लाभ दूसरे पत्रों से भी यथेष्ट उठाया है। मैं उनसे न केवल सामयिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करता, वरन् उनके आवश्यक लेखों को काटकर उन्हें उनके विषयों के अनुसार विभाजित करके अलग-अलग लिफाफों में रख देता, और पीछे प्रसंगानुसार उन पर विशेष विचार करता। विषयवार 'कटिंग' करके रखने से उन्हें देखने में बहुत सुविधा होती थी। उन्हें चाहे जब देखा जा सकता और उनसे लाभ उठाया जा सकता था। पीछे जाकर कई बार तो मन में यह भी आया कि मासिक या त्रैमासिक पत्रिकाओं से भी अपनी रुचि के लेखों के 'कटिंग' किये जाएँ, और उनका भी विषयवार वर्गीकरण करके रखा जाय, पर कुछ तो जिल्दें पूरी रखने का मोह था, कुछ काम बहुत बढ़ जाने की आशंका थी। अतः यह प्रायः न किया जा सका। जब कभी किसी नयी पुस्तक को आरम्भ करने लगता, केवल तभी मासिक साहित्य का उस विषय विशेष की दृष्टि से उपयोग करता।

विशेष वक्तव्य—पत्रिकाओं तथा पुस्तकों का विशेष संग्रह वृन्दावन में स्थायी रूप से रहने पर ही हुआ, उससे पूर्व तो मैं जहाँ-तहाँ रहने की दशा में सदैव सामान कम करने का ही विचार करता था। वस्तुतः ग्रन्थमाला का कुछ रूप ही वृन्दावन आने के बाद स्थिर हुआ। यहाँ माला के बीस वर्षों का इतिहास बना है।

चौदहवाँ अध्याय

साहित्यिक यात्राएं

डरना मत आंधी-अन्धड़ से, तूफानों से मत घबराना।
कांटों पे पग छिलने देना, रुकना मत, नित बढ़ते जाना ॥
शिथिल चरण क्यों रुक-रुक जाते, ढूंढ रहे क्यों तरु की छाया
उस पथ को तुम नाप रहे हो, जिसका छोर न युग ने पाया ॥
यह एक तपस्या भारी, कहे न यह जग "हिम्मत हारा"!
पथ पर हार न जाना राही, बहुत दूर है देश तुम्हारा ॥
—प्रकाश 'आतुर'

यात्रा का उद्देश्य—यात्रा-कार्य कठिन और खर्चीला होने पर भी आवश्यक तथा ज्ञान-वर्द्धक होता है। मेरी यात्राओं का उद्देश्य यह रहा है—किसी मित्र से रचना-कार्य में विचार विनिमय करना, आवश्यक सामग्री, पुस्तकें, रिपोर्ट आदि लेना, अध्यापकों से तथा शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारियों से मिल कर उन्हें माला के साहित्य कार्य का परिचय कराना जिससे वे समय पर उसका उपयोग करें, अन्य बंधुओं को इस कार्य की याद कराना जिससे वे इसके प्रकाशन या प्रचार आदि में सहायक हों। इसमें संदेह नहीं कि यदि पहले से समुचित योजना की जाए, और यथेष्ट साधन प्राप्त हों, तो यात्रा विशेष रूप से सफल हो।

यहाँ उस यात्रा का कुछ परिचय दिया जाता है, जो ग्रन्थमाला के प्रचार के अतिरिक्त खासकर 'नागरिक शास्त्र' और 'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' की हस्तलिखित प्रतियों पर विविध विद्वानों से विचार करने के लिए अप्रेल १९२८ में की गयी थी।

देहली में, पंडित रामचन्द्र जी—इस यात्रा में स्वामी आनन्द-भिक्षु जी साथ थे। वृन्दावन से चलकर हम पहले देहली ठहरे। पंडित रामचन्द्र जी सम्पादक 'महारथी' से पहले से परिचय था। आप उस समय अस्वस्थ थे, तथापि आपको 'महारथी' का प्रूफ तो देखना ही होता था; एक खास काम यह भी था कि उसके प्रत्येक पृष्ठ के नीचे एक अनुकूल भाव युक्त पंक्ति दी जाए। 'महारथी' वीर-रस-प्रधान बहुत अच्छा मासिक था, उसके लेखों से जीवन, त्याग-भाव और लोकसेवा की स्फूर्ति मिलती थी। उन दिनों श्रीमति चन्द्रदेवी जी कार्यालय के पत्र-व्यवहार आदि का बहुत कुछ कार्य संभालती थी।

कानपुर में, श्री विद्यार्थी—देहली से हम कानपुर आये। मेरी श्री गणेशशकर विद्यार्थी से मिलने की इच्छा बहुत दिन से थी। अब की वार सुयोग हो ही गया। किसी खास विषय पर उनसे विचार या वार्तालाप करना न था। इधर-उधर का जो प्रसंग आया, उसी पर बात होती रही। साहित्य सम्बन्धी चर्चा में उनके तीन वाक्य मुझे स्मरण हैं—(क) किसी लेखक का, पुरुषों तथा स्त्रियों के, भिन्न-भिन्न नामों से लेख प्रकाशित करना पत्रकारिता का व्यभिचार है। (ख) विविध पत्रों का पूंजीपतियों के आश्रय में संचालित होना चिन्ता-जनक है। (ग) हमारे साहित्य में अत्यधिक उत्पत्ति हो रही है। इनमें से प्रथम दो बातों से मैं पूर्णतः और अंतिम बात से कुछ अंश में विद्यार्थी जी से सहमत था। अस्तु, उनकी बात व्यवहार से मुझे यह अनुभव हुआ कि मैं एक स्वाध्यायशील, कष्ट सहिष्णु देश-हित-चिन्तक के पास बैठा हूँ।

'प्रताप' को मैं बहुत चाव से पढ़ता रहा था। चाहता था कि यह पत्र नियमित रूप से मुझे मिला करे। मर 'प्रताप' पर आने वाले बार-बार के आर्थिक संकटों का विचार करके, मेरी यह इच्छा भी नहीं थी कि मैं इसे बिना मूल्य ही लूँ। मैं इसका कुछ शुल्क देना चाहता था। पर विद्यार्थी जी ने यह पत्र वैसे ही मेरे नाम जारी करा दिया। पीछे इसका दैनिक संस्करण भी निकलने लगा, तो हरिशंकर जी ने

उसे भी कई वर्ष मेरे नाम भेजते रहने की कृपा की। इस समय साप्ताहिक 'प्रताप' बराबर दर्शन देता है। मुझे इससे विद्यार्थी जी के स्नेह की स्मृति होती रहती है।

फतेहपुर में, इसलामी शाहनामा—कानपुर से इलाहाबाद जाना था। रास्ते में एक दिन हम फतेहपुर ठहरे। यह नगर श्री स्वामी जी का जन्म-स्थान है। यहाँ इनके बचपन के कई मित्र थे। वे इन्हें स्नेह, आदर और अभिमान की दृष्टि से देखते थे। एक मुसलमान सज्जन ने अद्भुत् प्रेम दर्शाया। वे युवावस्था में श्री० स्वामी जी के साथ उर्दू फारसी में कविता किया करते थे। उन्होंने इसलाम साहित्य का खूब स्वाध्याय किया और पिछले दिनों में 'इसलामी शाहनामा' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसका प्रथम भाग प्रकाशित हो गया था। लेखक ने हमें इसके कुछ अंश सुनाये।

इस ग्रन्थ की भूमिका भारत-विख्यात ख्वाजा हसन निजामी ने लिखी थी, और उसमें यह भावना प्रकट की थी कि इस पुस्तक के प्रकाशित हो जाने पर मुसलमानों को हिन्दुओं की गौरवगाथा या कथाएँ सुनने की आवश्यकता न रहे। यह कैसी मनोवृत्ति है! इसी ने तो दो-राष्ट्र सिद्धान्त और अन्त में पाकिस्तान को जन्म दिया।

प्रयाग में साहित्यिकों का अड्डा—प्रयाग में हम दुबे जी के पास दारागंज में ठहरे। यहाँ की साहित्यिक गोष्ठी के, सम्मेलन के सभापति के चुनाव में भाग लेने से यह स्थान उस समय सम्मेलन सम्बन्धी चर्चा का एक बड़ा अड्डा बना हुआ था। दुबे जी से जैसे-तैसे 'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' पुस्तक के कुछ अंशों पर विचार किया गया। एक दिन डाक्टर बेनीप्रसाद जी से 'नागरिक-शास्त्र' के विषय में कुछ विचार-विनिमय हुआ। विद्वद्वर पं० कृष्णाकान्त जी मालवीय से भी भेंट हुई; आपने हमारे साहित्य कार्य से बहुत स्नेह-भाव सूचित किया।

बनारस में, श्री पराड़कर—प्रयाग से झूसी होते हुए, हम बना-

रस आये। यहाँ, श्री० बाबूराव विष्णु पराड़कर, सम्पादक 'आज' के यहाँ ठहरे। पराड़कर जी की कार्य-संलग्नता और कर्तव्य-भावना प्रशंसनीय थी। कई बार, प्रातःकाल कार्यालय में जाकर दोपहर को, एक-दो बजे, घर आये; और कई दिन, नौ-नौ बजे से तीन बजे तक कार्यालय में काम किया; वहाँ से, श्री० श्रीप्रकाश से कार्यालय-सम्बन्धी वार्तालाप करने चले गये, और वहाँ से पीछे काशी-विद्यापीठ की मीटिंग में पहुँच गये जो, इन दिनों, प्रायः नौ-नौ, दस-दस बजे रात तक रही। इस प्रकार, लगातार बारह-तेरह घण्टे काम में ही रहे। हमें कई बार यह विचार आया कि विविध कार्यों में इस प्रकार फँसे हुए आदमी पर और भार डालना, उसके साथ अन्याय करना है। पराड़कर जी ने ऐसी विपरीत परिस्थिति में भी, 'नागरिक शास्त्र' पर विचार करने के लिए बहुत समय दिया।

काशी विद्यापीठ—बनारस में हम तीन दिन काशी-विद्यापीठ में रहे। यह श्री शिवप्रसाद गुप्त का उसी प्रकार कीर्ति-स्मारक है, जैसे प्रेम-महाविद्यालय राजा महेन्द्रप्रताप का है। इसके आचार्य उस समय श्री नरेन्द्रदेव थे। आप का ज्ञान जितना विस्तृत था, सादगी और त्याग भी उतना ही उच्च और अनुकरणीय था। विद्यापीठ के आचार्य में ये गुण होने ही चाहिएँ। नागरिकशास्त्र सम्बन्धी आपके विचार जानकर हम कृतार्थ हुए।

श्री० श्रीप्रकाश नागरिक शास्त्र में विशेष अनुराग रखते थे। समयाभाव होते हुए भी आपने, उस के वविध अंशों पर भली-भाँति विचार किया, और हमारी साहित्य-रुचि से बहुत प्रसन्नता प्रकट की।

'ब्रिटिश साम्राज्य शासन' के सम्बन्ध में श्री चन्द्रदत्तजी पांडे शास्त्री, तथा सम्पूर्णानन्दजी से विचार किया गया। पिछले सज्जन की तो राज-नीति-विषयक योग्यता का हमें पहिले से ज्ञान था, परन्तु पांडे जी से हमें सहसा इतनी आशा न थी। आप नवयुवक ही थे, तो भी, आपका

स्वाध्याय अच्छा था। काशी विद्यापीठ, ऐसे सज्जनों का अभिमान कर सकती है।

ज्ञान-मंडल—काशी में हमने ज्ञान-मंडल कार्यालय भी देखा, तथा पुस्तक-भण्डार के प्रबन्ध-कर्ता श्री० मुकुन्दीलाल से मिले। ज्ञान-मण्डल के ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य, अब काशी विद्यापीठ को सौंप दिया गया था। ज्ञान-मंडल ने कितने उच्च आदर्श से कार्य किया है, इसके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों से आधुनिक साहित्य की कैसी पूर्ति हुई, और तिस पर भी, इसके ग्रन्थों का यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ, यह वास्तव में हिन्दी-प्रेमियों के लिये विचार का विषय है; तथा उन लोगों के लिए विशेष चिन्ता का विषय है, जो उसी प्रकार का उच्च आदर्श रख कर काम करते रहते हैं। ज्ञान-मण्डल द्वारा प्रकाशित पत्र पत्रिकाओं में 'स्वार्थ' और 'मर्यादा' का अन्तर्ध्यान हो जाना, देश-हितैषियों के दिल को दुखाने वाला है। केवल 'आज' चल रहा है, और हमारे आसू पोंछने के लिये यही बहुत है कि यह तो चल रहा है!

हिन्दू विश्वविद्यालय—एक दिन हम हिन्दू-विश्वविद्यालय में भी गये। यहाँ की इमारतें ऐसी शानदार हैं, कि उन्हें देख कर अनेक आदमी देश की गरीबी को भूल सकते हैं। यहाँ हम श्री प्रोफेसर एस० बी० पुन्ताम्बेकर, गुरुमुखसिंह जी, और जीवनशंकर जी याज्ञिक से मिले। इनमें से प्रथम सज्जन नागरिक शास्त्र पर अंगरेजी में पुस्तक लिख रहे थे, और श्री याज्ञिक हिन्दी में अर्थशास्त्र लिखने वाले थे। तीनों महाशयों ने हमारे साहित्य-कार्य का परिचय पाकर बहुत हर्ष प्रकट किया।

एक मनोरंजक घटना—काशी के प्रवास की एक घटना मनोरंजक है। मैं एक सज्जन से मिलने गया; वे विद्वान होने के साथ 'बड़े' आदमी थे। ड्योढीवान मुझे उनके फाटक में लिवा ले गया और बाहर के उस कमरे में बैठा दिया जहाँ कागज पेंसिल रखी थी। इन चीजों की ओर इशारा करके उसने मुझ से पूछा कि क्या आपको नाम

लिखना आता है। मैंने कुछ उत्तर न दे, चुपचाप अपना नाम लिख कर कागज उसे दे दिया। उसने वह कागज गृह-स्वामी को दिया। जब मुझे बड़े आदर-सत्कार से भीतर बुलाया गया तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसे यह आशा न थी कि ऐसे 'गवार' की उस मकान में इतनी आवभगत होगी।

लेखकों के उद्गार—स्थानाभाव से यहाँ अन्य यात्राओं का वर्णन नहीं किया जाता। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यात्राओं में लेखकों और पाठकों के तरह-तरह के विचार और दृष्टिकोण सामने आये। किसी को एक कृति बहुत पसन्द है, और किसी को वह बिलकुल ना-पसन्द। एक बात की प्रतिक्रिया एक व्यक्ति के मन में एक तरह होती है, दूसरे के मन पर दूसरी तरह। एक ही व्यक्ति का मत भी किसी रचना के सम्बन्ध में हमेशा एकसा नहीं होता, अब कुछ है, पीछे जाकर कुछ और ही हो जाता है। यहाँ ऐसी दो-एक बातों का उल्लेख किया जाता है।

'मैं अब हिन्दी में न लिखूँगा'—नवम्बर १६३० में, जब मैं इन्दौर था एक दिन सायंकाल के समय एक सज्जन से भेंट हो गयी। बातचीत से मालूम हुआ कि वे अँग्रेजी के अच्छे विद्वान हैं। उनके लेख हिन्दी के उच्च कोटि के पत्र पत्रिकाओं में निकले हैं। मुझे यह मालूम न था कि उन्होंने हिन्दी में कोई पुस्तक भी लिखी है। स्वभाव-वश मैंने उनसे यह प्रस्ताव किया कि अच्छा हो, आप किसी विशेष विषय पर कोई अच्छी पुस्तक लिखें। इस पर उन्होंने जो जवाब दिया उसे सुनकर मैं दंग रह गया। उन्होंने कहा, "केला जी ! मैंने हिन्दी में पुस्तकें लिखी हैं, एक पुस्तक तो हाल ही में छपी है। पर, अब मैंने निश्चय कर लिया है कि हिन्दी में न लिखूँगा।" कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया कि "मैंने बड़ी मेहनत से तो दर्शन-सम्बन्धी विषय की पुस्तक लिखी; और उसका पुरस्कार मिला मुझे उस पुस्तक की कुछ प्रतियाँ ही, नकद कुछ नहीं। खैर; इसकी कुछ शिकायत नहीं। पुस्तक

समालोचनानार्थ भेजी गयी तो हिन्दी की एक सुप्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका में प्रकाशित आलोचना से ज्ञात हुआ कि हिन्दी वाले अभी गम्भीर विषय का स्वागत करना नहीं जानते। फिर लिखा क्यों जाए। आपने तो वह आलोचना पढ़ी होगी।" कुछ समय के बाद मुझे उक्त पुस्तक तथा उसकी आलोचना देखने का अवसर मिला। ऐसा मालूम हुआ कि लेखक कहीं-कहीं अपने महत्वपूर्ण विषय को काफी स्पष्ट और सुबोध नहीं कर सके, वह परिभाषिक सा हो गया है, भाषा की अशुद्धियाँ भी हैं। साथ ही आलोचक महाशय ने साढ़े सात कालम के वक्तव्य में विशेषतया भाषा की ही आलोचना की है, और ऐसा करते हुए कई स्थलों पर अपनी भाषा की अनावश्यक छटा दिखायी है।

प्रतिकूलताएँ होते हुए भी राष्ट्र भाषा की सेवा करूँगा— इस प्रसंग पर विचार करते हुए मुझे अपने एक मित्र का उदाहरण स्मरण आया। वे भी अंग्रेजी के अच्छे विद्वान हैं, और विश्वविद्यालय में कई वर्ष से शिक्षक हैं। उन्होंने एक बार कहा था, "देखिए, मेरे सहयोगी विश्वविद्यालय के मेगजीन में कभी-कभी एक-आध लेख लिख देते हैं तो उनकी वह सेवा बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती है; अधिकारी उनकी प्रशंसा करते हैं, वार्षिक विवरण में उसका उल्लेख होता है। परन्तु मैंने उनसे कई गुना अधिक श्रम किया, हिन्दी में विविध लेखों के अतिरिक्त उपयोगी पुस्तकें भी लिखी; परन्तु अधिकारियों की दृष्टि से उस कार्य का कुछ मूल्य ही नहीं, साथ ही प्रकाशकों से पुरस्कार भी बहुत मामूली सा मिलता है। यह सब प्रतिकूलताएँ होते हुए भी, मेरा विचार यथा-सम्भव राष्ट्र-भाषा की सेवा करने का है।"

मुझे इस बात की जाँच में न जाकर कि मेरे इन मित्र को कुल मिलाकर यथेष्ट पारिश्रमिक मिला या नहीं, यही कहना है कि जो सज्जन ऐसी प्रतिकूलताओं का सामना करके भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होते, वे धन्य हैं। उनके ही सहारे हिन्दी साहित्य अपनी उत्तरोत्तर उन्नति की आशा करता है।

अब समालोचना लिखना बन्द कर दूँगा—एक सम्पादक महाशय ने मुझसे पूछा—"यदि आपकी पुस्तक की कोई कटु समालोचना करे तो आप अप्रसन्न तो न होंगे? क्या वह प्रकाशित की जाए?" यह पूछना उनकी शिष्टता थी। जवाब में मैंने लिख दिया कि समालोचक को अपने कार्य में स्वतंत्रता है। हाँ, मैं देखूंगा कि मै उससे कहाँ तक लाभ उठा सकता हूँ। समालोचना छप गयी। मुझे उसमें लाभ उठाने की बातें कम मिलीं। कुछ शब्दों के प्रयोग पर समालोचक को आपत्ति थी। उन्होंने कुछ रचनात्मक सुधार भी सुझाये थे, पर वे पुस्तक के क्षेत्र से बाहर के थे, ऊँची उड़ान के सूचक थे। तथापि आलोचना में मुझे कटुता प्रतीत न हुई। उन्हीं दिनों साहित्य समिति का एक अधिवेशन हुआ; उसमें मैंने 'लेखक की वेदना' लेख पढ़ा, संयोग से श्रोताओं में उक्त समालोचक भी थे। अस्तु; अधिवेशन के बाद समालोचक महाशय से भेंट हुई। मैं उस समय तक उनसे परिचित न था। मिलते ही उन्होंने बड़ी नम्रता दर्शाते हुए कहा, "केला जी! मैं क्षमा चाहता हूँ, अब से समालोचना नहीं किया करूँगा; अब तक मुझे लेखकों की परिस्थिति का सम्यक् ज्ञान नहीं था। आपकी 'लेखक की वेदना' सुन कर मुझे उनकी कठिनाइयों का बोध हुआ।" मुझे, इन शब्दों में समालोचक महाशय की अतिशय विनयशीलता या भावुकता मालूम हुई। जो हो, समालोचक को अपने उत्तरदायित्व का जितना ध्यान रहे, अच्छा है।

इस प्रकार साहित्यिक यात्राओं में तरह-तरह के शिक्षाप्रद और मनोरंजक अनुभव हुए।

———

पंद्रहवाँ अध्याय

साहित्यिक संस्थाएं

यदि यथेष्ट सावधान न रहा जाए तो कुछ समय बाद अच्छी-अच्छी संस्थाओं में भी घुन लग जाता है। वे खुलते समय तो दुनिया भर की डींग हांकती हैं, और बाद में व्यक्तिगत स्वार्थ और दलबन्दी के फेर में पड़ कर सब कुछ भूल जाती हैं।

—अज्ञात

साहित्यक संस्थाओं का सुधार—अपने विविध कार्यों के संचालन की सुविधा के लिए आदमी संस्थाओं का निर्माण करता है। पर संस्थाओं में समय-समय पर कुछ दोष आते रहते हैं, यदि उन्हें दूर नहीं किया जाता तो संस्थाओं का उद्देश्य पूरा होने में सफलता नहीं मिलती। अनेक बार तो वे मानव प्रगति में बाधक ही हो जाती है। मेरी रुचि संस्थाओं में भाग लेने की कम ही रही, तथापि खासकर कुछ साहित्यिक संस्थाओं से मेरा थोड़ा-बहुत सम्बन्ध रहा और उनकी विविध बातें सामने आयीं। उन पर मैं कभी-कभी पत्रों में लिखता भी रहा। यहाँ विविध संस्थाओं की कुछ त्रुटियों का उल्लेख किया जाता है, जिससे सुधारकों को विचार करने का अवसर मिले। पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बात लें।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन—इस संस्था की स्थापना हिन्दी साहित्य की उन्नति और प्रचार के लिए सन् १६१० में काशी-नागरी-प्रचारणी सभा की प्रेरणा से हुई थी। इसका मुख्य कार्य हिन्दी में विविध विषयों की परीक्षा लेना रहा है। देश के विविध भागों में इसके लगभग ४००

परीक्षा-केन्द्र है, जिसमें परीक्षार्थी-संख्या छः हजार तक पहुँच चुकी है। इन परीक्षाओं से हिन्दी में विविध विषयों की पुस्तकों का अच्छा प्रचार हुआ है। सम्मेलन के प्रचार विभाग से जनपदीय सम्मेलनों की व्यवस्था होती है, पुस्तकालय और वाचनालयों की स्थापना की जाती है। संग्रहालय में लगभग बीस हजार पुस्तकें हैं, और लगभग डेढ़ सौ पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। यहाँ से लगभग दो सौ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस संस्था द्वारा लेखकों को प्रति वर्ष बारह सौ रुपये का मंगला-प्रसाद पारितोषिक तथा कई अन्य पारितोषिक और पदक दिये जाते हैं। इसकी मुख-पत्रिका त्रैमासिक है। सन् १९५२-५३ में यह संस्था दल-बन्दी की शिकार हुई, यहाँ तक कि मामला अदालत में पहुँचा। अब काम सुचारू रूप से होने की आशा है।

खटकनेवाली बात—सन् १९३६-३७ में प्रयाग में दुबे जी के पास रहते हुए मैंने देखा कि इस संस्था के हेडक्लर्क (जिन्हें रजिस्ट्रार कहा जाता था) दिन भर कार्यालय में काम करने के बाद सायंकाल को परीक्षा-मंत्री (दुबे जी) के पास दारागंज फाइल लेकर आते और विविध विषयों पर विचार करते-करते उन्हें यहाँ बहुधा आठ नौ बज जाते। इस प्रकार वे प्रातः काल नौ बजे घर से निकल कर रात को नौ बजे घर पहुँचते। जो संस्था लोकसेवा और ज्ञान के प्रचार का उद्देश्य रखे, उसका अपने कर्मचारियों के साथ ऐसे व्यवहार का उदाहरण उपस्थित करना मुझे बहुत अप्रिय लगता। मैंने दुबे जी से इसके सम्बन्ध में कहा तो कभी तो उन्होंने यह जवाब दे दिया कि रजिस्ट्रार को कोई शिकायत हो तो वे स्वयं कहें; कभी-कभी दुबे जी ने यह भी स्वीकार किया कि कार्यालय में, मेरी माँग होने पर भी, और आदमी बढ़ाये जाने की आशा नहीं है। उधर रजिस्ट्रार मुझसे कहते, मुझे कोई शिकायत नहीं है, मैं तो यही चाहता हूँ कि किसी प्रकार मेरी नौकरी निभे चली जाए। अस्तु, इन दोनों सज्जनों में से किसी की भी

बात से मेरा समाधान नहीं हुआ; मैं अच्छे आदर्श की आशा करता था।

परीक्षकों को पारिश्रमिक देने का विषय—सम्मेलन सम्बन्धी एक बात और उल्लेखनीय है। सम्मेलन की नियमावली के अनुसार मैं परीक्षकों के प्रतिनिधि-रूप स्थायी समिति का सदस्य निर्वाचित हुआ। परन्तु स्थायी समिति की सदस्यता की फीस तीन रुपये वार्षिक थी। मेरा कथन था कि सम्मेलन के परीक्षक अवैतनिक है, सम्मेलन उन्हें कोई पारिश्रमिक नहीं देता; इस दशा में कम से कम परीक्षकों के प्रतिनिधि से शुल्क न लिया जाना चाहिए। मेरी बात स्वीकार नहीं हुई, फलतः मैंने अपने प्रतिनिधि पद का उपयोग न किया। किन्तु मैं अगले वर्ष फिर प्रतिनिधि चुना गया, और फिर वही बात रही। इस प्रकार कई बार यह प्रयोग दोहराया गया, परन्तु कुछ सुधार न हुआ। एक बार मेरा यह विचार हुआ कि परीक्षकों को कुछ पारिश्रमिक दिये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। दुबे जी (परीक्षा मंत्री) मेरे साथ सहमत थे। परन्तु सम्मेलन की स्थिति का विचार करते हुए आपने केवल यही प्रस्ताव किया कि सम्मेलन की निबन्ध-माला आदि जो पुस्तकें पूर्व प्रकाशित पड़ी हैं, वे परीक्षकों को दिये जाने का विचार किया जाए। इस प्रस्ताव को भी बातों में टाल दिया गया। कुछ सज्जनों ने कहा कि जब हमें अवैतनिक कार्यकर्ता ही काफी से ज्यादा मिलते रहते हैं, तो पारिश्रमिक देने की बात क्यों की जाए। मुझे इसमें कुछ तत्व न प्रतीत हुआ; सम्मेलन के कर्णधारों की कृपणता ही दिखायी दी। *

सम्मेलन की प्रकाशन-नीति—ज्यों ज्यों सम्मेलन की परीक्षाओं का प्रचार बढ़ता गया, यह विचार होने लगा कि जिन प्रकाशकों की खासकर हिन्दी साहित्य सम्बन्धी पुस्तकें सम्मेलन की परीक्षाओं में पाठ्य

* कुछ समय बाद सम्मेलन अपनी प्रकाशित पुस्तकें परीक्षकों को पारिश्रमिक के रूप में देने लगा। पीछे तो नकद पारिश्रमिक देने की भी व्यवस्था हुई। पर इसमें कभी-कभी पक्षपात से काम हुआ।

पुस्तकें निर्धारित हो जाती हैं, वे उनसे काफी लाभ उठाते हैं, क्यों न सम्मेलन स्वयं उन्हें प्रकाशित करे और अपनी आय बढ़ाए। इस विचार-धारा के फल-स्वरूप सम्मेलन ने पहले अपनी परिक्षाओं के योग्य पाठ्य पुस्तकें छपाना आरम्भ किया। पीछे जब उत्तर-प्रदेश में इन्टर के विद्यार्थियों को प्रश्न-पत्रों का उत्तर हिन्दी में लिखने की अनुमति मिल गयी तो सम्मेलन द्वारा कुछ ऐसी पुस्तकों के भी प्रकाशन का विचार-किया, जाने लगा, जो सरकारी पाठ्यक्रम के अनुसार हों। इसमें आम-दनी का लक्ष्य तो था ही, यह भी विचार रहा कि ऐसा होने पर इन पुस्तकों के अभाव की शिकायत न रहेगी, और शिक्षा का माध्यम हिन्दी बनने का काम तेजी से हो सकेगा। मुझे ऐसी बात कुछ अपील नहीं करती। बात यह है कि पाठ्य पुस्तकें तो छपती ही रहती हैं, सम्मेलन उन्हें न छपाये तो उनका काम रुकने वाला नहीं। सम्मेलन को तो खास-खास विषयों की ऐसी ही पुस्तकें छपानी चाहिएँ, जो विशेष अभावों की पूर्ति करें, जिनकी मांग कम होने से दूसरे प्रकाशक उन्हें छपाने का साहस न करते हों।

सम्मेलन के द्वारा पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त जो अन्य प्रकाशन हुआ; वह अधिकांश में उसके किसी प्रभावशाली अधिकारी के रुख को देखकर हुआ या, इस दृष्टि से हुआ कि उसकी खपत की गुंजायश है। कई बार तो आयी हुई हस्तलिखित प्रति का भाग्य-निर्णय खासकर इस आधार पर हुआ कि छपने पर इसकी इतनी प्रतियाँ शिक्षा प्रसार विभाग द्वारा खरीद ली जाने की आशा है। यह बात सम्मेलन जैसी संस्था के लिए शोभनीय नहीं; इसमें आमूल परिवर्तन होना चाहिए।

सम्मेलन के लिए कुछ सुझाव—सम्मेलन अब तक अधिकतर एक परीक्षा लेने वाली संस्था रहा है। इसकी परीक्षाओं द्वारा कितने ही आदमियों को अर्थशास्त्र, राजनीति, विज्ञान आदि विविध विषयों की हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने की रुचि बढ़ी, लेखकों को प्रोत्साहन मिला, उनकी पुस्तकों का प्रचार बढ़ा और इस प्रकार साहित्य-निर्माण में सहायता

मिली। ज्यों-ज्यों परिक्षाएँ अधिक लोकप्रिय हुई, और परिक्षार्थियों की संख्या बढ़ती गयी, सम्मेलन को उनके द्वारा होनेवाली आय भी बढ़ती गयी। अब, जब कि हिन्दी भारतीय संघ की राजभाषा घोषित हो चुकी है, और उच्च शिक्षा का माध्यम भी बनती जा रही है, सम्मेलन की परीक्षाओं का मुख्य उपयोग धनोपार्जन रह गया है। आवश्यकता है कि सम्मेलन अपनी शक्ति परीक्षाओं में क्रमशः कम करके साहित्य-निर्माण का कार्य प्रत्यक्ष और विशेष रूप से हाथ में ले—

(१) सम्मेलन इस बात का विचार करे कि हिन्दी साहित्य के कोन-कौन से ऐसे अंग अपूर्ण हैं, जिनको इस समय हमें, भारतीय राष्ट्र की उन्नति और जागृति के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। इनकी पूर्ति के लिए सम्मेलन यथेष्ट सुविधाएँ अथवा सहायता दे, जिससे आगामी पांच वर्ष में खासा कार्य सम्पादन हो सके। ऐसे लेखकों की सूची तैयार की जाय, जो निर्वाह-मात्र के लिए १००), १५०) की मासिक वृत्ति लेकर उपर्युक्त कार्य में जुट सकें।

(२) सम्मेलन-पत्रिका समस्त साहित्य को निष्पक्ष समालोचना किया करे। जो साहित्य प्रोत्साहन के योग्य हो उसके प्रचार में सहायक हों, और जो अनिष्टकर प्रतीत हो, उसकी स्पष्ट, बिना मुरव्वत-लिहाज भर्त्सना की जाए।

(३) सम्मेलन समय समय पर कुछ ब्योरेवार यह सूचित करता रहे कि मराठी, बंगला या गुजराती आदि भारतीय भाषाओं में किस-किस विषय का कौनसा ग्रंथ विशेष उपयोगी प्रकाशित हुआ है; जिससे राष्ट्र-भाषा लेखक अपने राष्ट्र भर की साहित्यिक गति-विधि को जानते रहें और उससे हिन्दी साहित्य को लाभ पहुँचाते रहें।

(४) सम्मेलन हिन्दी भाषा-भाषियों को अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य का भी परिचय देता रहे। वह बतलाता रहे कि अंगरेजी तथा अन्य विदेशी भाषाओं में कैसा-कैसा साहित्य प्रकाशित हो रहा है, जिससे जो पाठक उन भाषाओं के जानकार तथा उन विषयों में अनुराग रखने वाले हों,

वे महत्वपूर्ण ग्रन्थों के आधार पर अथवा उनके अनुवाद-रूप में हिंदी भाषा की रचनाएँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी—यह हिन्दी की सब से पुरानी सुप्रतिष्ठित संस्था है। इसकी स्थापना सन् १८६३ में हुई थी। सरकारी अदालतों में नागरी लिपि का प्रवेश कराने तथा प्राचीन ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्रतियों की खोज के सम्बन्ध में इसने खूब काम किया है। इसका एक अच्छा पुस्तकालय, संग्रहालय, प्रकाशन विभाग, पुरस्कार और पदक विभाग, भारतीय कला विभाग है। इसके द्वारा विविध केन्द्रों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया जाता है। त्रैमासिक मुखपत्रिका के अतिरिक्त यह कई ग्रन्थमालाएँ प्रकाशित करती है। सन् १९५३ में इसके आन्तरिक संगठन में शिथिलता और वाद-विवाद नजर आया। जल्दी ही यथेष्ट सुधार होने वाला है।

पुरानी रचनाओं की खोज—नागरी प्रचारिणी सभा विशेष रूप से, और बड़े पैमाने पर प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज करती है। कुछ अन्य संस्थाएं भी अपनी परिमित शक्ति के अनुसार इस ओर ध्यान देती हैं। काम करने योग्य है, यह कौन स्वीकार न करेगा! हमारे अनेक पूर्वज—कवि और लेखक—बेचारे कलम घिसते हुए इस संसार को छोड़ गये। तत्कालीन समाज और राज्य की उपेक्षा से और कुछ अंश में स्वयं उनकी उदासीनता के कारण, उनकी कृतियाँ प्रकाश से वंचित हो अपना जीवन समाप्त करती मालूम होती हैं। इनमें से जो उपयोगी हों, उनकी रक्षा करना आवश्यक है; पर क्या यही पर्याप्त है?

पुरानी कृतियों की रक्षा करने में हम ऐसे तल्लीन हैं, कि मानो उसके करते हुए हमारी ओर कुछ शक्ति रहती ही नहीं। हाँ, अनजान में ही क्यों न हो, हम ऐसा कार्य करते मालूम होते हैं, जिससे आधुनिक चीजें पुरानी पड़ती जाएँ। सम्भवतः उसी समय हम उनका आदर यथेष्ट रूप में करेंगे, जब कि उनपर पुरानेपन की छाप लग जाएगी। देश के वर्तमान लेखकों के पास कितनी ही रचनाएँ ऐसी पड़ी हैं, जो प्रकाश में

आनी नितान्त कठिन क्या, प्रायः असम्भव समझनी चाहिए। फिर भी कोई सम्मेलन, सभा या अन्य संस्था उनकी याददाश्त रखने के लिए चिन्तित नहीं मालूम पड़ती। संभवतः ये इस ओर ध्यान भी तब दे सकती हैं, जब उन्हें अपने, पुरातन साहित्य-रक्षा के महान कार्य से अवकाश मिले।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग—सरकारी सहायता से इसकी स्थापना सन् १९२७ में हुई थी। इसका उद्देश्य हिन्दी उर्दू में आवश्यक पुस्तकों का अनुवाद तथा नयी रचनाएँ तैयार कराके प्रकाशित करना, साहित्यिकों को प्रोत्साहित करना, एक बड़ा पुस्तकालय संचालित करना आदि था। इसने विद्वानों द्वारा साहित्यिक विषयों पर व्याख्यान कराये और 'हिन्दुस्तानी' नाम की तिमाही पत्रिका प्रकाशित की। सरकारी संस्थाओं की तरह इसके द्वारा जो खर्च हुआ, उसकी तुलना में काम बहुत कम हुआ; इसकी दृष्टि अधिकतर प्रोफेसरों, या सुप्रसिद्ध लेखकों की ओर ही रही।

मुझे यहाँ इससे सम्बन्ध रखनेवाली अपने अनुभव की ही दो-एक बातों का उल्लेख करना है। मैंने सन् १९३० में 'हिन्दी भाषा में अर्थ-शास्त्र साहित्य' लेख लिखा था। दुबे जी से विचार-विमर्श कर मैंने इसे संशोधित किया और बढ़ाया। यह एकेडेमी की पत्रिका में भेजा गया तो उसके अधिकारियों का यह विचार मालूम हुआ कि इस पर दुबे जी का भी नाम रहे तो यह छप जाएगा (और पारिश्रमिक भी मिल जाएगा); अकेला मेरा नाम होने की दशा में यह न छप सकेगा। लेख प्रकाशित कराने (और पारिश्रामिक पाने) का लक्ष्य रखकर मैं उस पर दुबे जी का भी नाम देने में सहमत होगया।* पर मुझे

* इसपर भी लेख 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में न छपा, कई माह इन्त-जार करने के बाद उसे वहाँ से वापिस ले लिया गया। पीछे सन् १९३१ में वह 'गंगा' (भागलपुर) में छपा।

इसमें अपनी कमजोरी जान पड़ी; वैसे श्री दुबे का नाम देने में कोई बात न थी, पर अब एक प्रकार बाहरी दबाव से नाम देना मुझे अच्छा न लगा।

दूसरी बात। एकेडेमी 'राजस्व' विषय की पुस्तक लिखाना चाहती था। सूचना पाकर मैंने पुस्तक तैयार करदी। यह स्वीकार कर ली गयी। इसके छपते समय मुझे भाषा की दृष्टि से कुछ अंशों को संशोधित करने के लिए कहा गया। मेरे द्वारा यह कार्य किये जाने पर पुस्तक छप गयी; पर कई महीने प्रकाशित न हुई। पीछे पुस्तक की एक प्रति आयी, उसमें जहाँ-तहाँ निशान लगे हुए थे। मुझे उन आपत्तिजनक स्थलों पर पुनः विचार करके संशोधन करने को कहा गया। पुस्तक छप चुकने पर ऐसा करना मुझे ठीक न जचा; बिना यथेष्ट विचार किये ही पुस्तक स्वीकार क्यों की गयी! अस्तु, बात न बढ़े—इसलिए मैंने यह काम कर दिया। तब पुस्तक प्रकाशित हुई। पुस्तक का मूल्य एक रुपया रखा गया, (जब कि उस समय की स्थिति के अनुसार आठ आने ही ठीक रहता), इसका कारण यह बताया गया कि पुस्तक एक-रुपया-सीरीज (ग्रन्थमाला) में रखनी है। यह कारण सन्तोषजनक न था; पुस्तक का मूल्य उसके आकार-प्रकार और लागत आदि के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए।

ब्रज-साहित्य-मंडल, मथुरा—इसकी स्थापना सन् १९४० में हुई। इसका उद्देश्य ब्रजक्षेत्र की भाषा, कला, साहित्य संस्कृति, और इतिहास की रक्षा और अनुसंधान करना है। यह हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करता है, कवि सम्मेलन तथा प्रचारात्मक कार्यों की व्यवस्था करता है, 'ब्रजभारत' त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित करता है, 'भारतेन्दु कलश' ताम्रपत्र और पुरस्कार देता है। यह ब्रजविद्यापीठ का आयाजन कर रहा है। मुझे इसकी प्रवृत्तियों में भाग लेने या उन्हें नजदीक से देखने का प्रसंग नहीं आया। इसने अपने सहारनपुर अधिवेशन में मुझे ताम्रपत्र देने का निश्चय किया था। परन्तु कार्यकर्त्ताओं के आपसी मतभेदों

के कारण वह अधिवेशन ही स्थगित रहा। अगले अधिवेशन में मैं सम्मिलित नहीं हो सका—समारोहों में प्रायः मेरी अरुचि ही रहती है—मंडल ने ताम्रपत्र मेरे पास डाक से भेजने का कष्ट उठाया। मंडल का कार्य-क्षेत्र बढ़ता जा रहा है, कार्यकर्ताओं को पदों के लोभ, प्रतिष्ठा और दलबन्दी से बचे रहने की आवश्यकता है।

पदाधिकारियों का चुनाव, दलबन्दी आदि—साहित्यिक संस्थाओं का उद्देश्य जनता में ज्ञान का प्रचार और उन्हें सन्मार्ग दिखाना होता है। उनके भी संगठन अर्थात् पदाधिकारियों के चुनाव आदि के लिए कैसे-कैसे उपाय काम में लाये जाते हैं, इसका विचार करते हैं तो हृदय को बड़ी वेदना होती है। दलबंदियाँ की जाती हैं, विविध प्रकार के अनुचित आधारों पर अपील की जाती है; असभ्य भाषण दिये जाते लेख लिखे जाते हैं, गुप्त पत्र-व्यवहार किया जाता है। यह सब इसलिए कि 'हमारा आदमी' सभापति-पद के लिए चुना जाय। यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि वे वयोवृद्ध हैं। वृद्धों के प्रति आदर-भाव होना बहुत अच्छा है; परन्तु क्या उसकी कोई सीमा नहीं ? क्या किसी के प्रति अपना आदर-भाव सुचित करने का हमारे पास एकमात्र मार्ग यही है कि वह सभापति के महान पद को सुशोभित करे, जिसका कार्य भलीभाँति चलाने की उसमें क्षमता नहीं ? जो वृद्ध सज्जन अपने संकीर्ण क्षेत्र से बाहर जाने में समर्थ नहीं हैं, जो साहित्य की बागडोर संभालने में अत्यन्त अनुदार हैं, वे देश का हित-साधन कहाँ तक करेंगे और उन्हें एक उत्तरदायी पद पर बैठाने के लिए वक्ताओं और लेखकों को अपनी वाणी या लेखनी का उपयोग करना कहाँ तक क्षम्य है—यह विचारणीय है।

प्रकाशन-संस्थाएँ—मेरे एक मित्र ने देश के उद्योग-धन्धों पर पुस्तक लिखी। काफी समय बीतने पर एक प्रकाशक ने उसे लिया। उसने प्रान्तीय उद्योग मन्त्री से उसकी चर्चा की; देखो हम औद्योगिक साहित्य प्रकाशित करने का आयोजन करते हैं, हमें सरकारी

सहायता मिलनी चाहिए। बात कुछ सफल होते न देख, वह प्रकाशक ठण्डे पड़ गये; और कुछ काल पीछे, उसने मूल प्रति, लेखक के पास लौटा देने की कृपा की। पीछे अन्य प्रकाशकों से चर्चा हुई। कुछ समय बीत जाने पर पुस्तक में दिये अंक पुराने पड़ गये और लेखक को उसके छपाने की रुचि न रही।

हिन्दी में आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक साहित्य के प्रति बड़े-बड़े धनी प्रकाशक भी ऐसी उपेक्षा करते हैं, फिर टटपूंजिये प्रकाशकों की तो बात ही क्या कही जाए। यदि प्रकाशक लोग, दस फी सदी पुस्तकें भी ऐसी प्रकाशित कर दिया करें, जो लोक-रुचि का अनुकरण करने वाली न होकर उसका निर्माण करने वाली हों, जो आमदनी वाली न होकर कुछ घाटे वाली ही हुआ करें, तो भी शायद राष्ट्रभाषा भण्डार की समुचित पूर्ति की आशा हो जाए। ऐसी ग्रन्थ-मालाओं का समय कितने वर्षों बाद आएगा, जिनमें अधिकांश पुस्तकें किसी विशेष लक्ष्य और महान उद्देश्य को लेकर निकलेंगी!

हमारी कई बड़ी-बड़ी साहित्यिक कही जानेवाली संस्थाएँ भी जब प्रकाशन-कार्य की ओर कदम बढ़ाती हैं तो उनके सामने कोई ऐसा निर्धारित कार्यक्रम नहीं होता कि हिन्दी में जिन विषयों के साहित्य की कमी है, उसे पूरा किया जाय। वे व्यापारिक संस्थाओं की भाँति यह हिसाब लगाया करती है कि अमुक पुस्तक अमुक पाठ्य क्रम में ठीक बैठेगी, इसलिए इसे छपाने का निश्चय किया जायगा और अमुक पुस्तक (चाहे वह कितनी ही उपयोगी हो) विशेष चलनेवाली न होने के कारण न छपायी जाय। ये अपना बैंक का खाता बढ़ाती है, या किसी खास गुट के आदमियों को प्रसन्न करने के लिए उनकी रचनाएँ प्रकाशित करती हैं। ये सोचें कि इन्हें हिन्दी साहित्य का क्या विशेष हित साधन करना है; पर इन्हें दलबन्दी और तू-तू मैं-मैं से अवकाश हो तब न!

सोलहवाँ अध्याय
साहित्यिक चिन्तन

नीति-निपुण सज्जन निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी प्राप्त हो या जाती रहे, आज ही मरना हो या बहुत समय बाद—धीर पुरुष न्याय-पथ से विचलित नहीं होते। **—भर्तृहरि**

साहित्य और साहित्यकारों के सम्बन्ध में मेरे मन में समय-समय पर अनेक विचार उठे हैं, उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं।

(१)

कुछ चिन्तनीय बातें

दूर के ढोल सुहावने—यों तो जीवन में कितनी ही भूलें हुई हैं, पर साहित्यिक क्षेत्र की एक भूल विलक्षण रही है। उस भूल में सुख था, शान्ति थी। जब से उस भूल को भूल समझने का अवसर आया है, मानो सब सुख-शान्ति लुट गयी। मैंने सरस्वती के पुजारियों के चरणों में बैठने के लिए भला-पुरा, जो कुछ बन आया, किया। किसी से कुछ पुस्तकें उधार लीं, किसी से कुछ 'सामग्री' ला देने को कहा, किसी के पास जा कर कहा कि मुझे कुछ खाने-पीने को दो, किसी से अपनी क्षुद्र रचना को प्रकाश में लाने की सुविधाएँ प्रदान करने की भिक्षा मांगी—यह सब इसी वास्ते कि मैं सरस्वती-पुजारिओं को परम पिता के निकटतम, देवता की श्रेणी का, समझता रहा। यह आशा करता रहा कि उनके दर्शन-मात्र से सब पाप दूर हो जाएँगे। पर अनुभव में यह आया कि चमकने वाली सब वस्तु सोना नहीं है, उसमें मिलावट है,

साहित्य-पुजारियों में भी कृत्रिमता है, दम्भ है, और थोड़े—बहुत सभी मानवी विकार हैं; हाँ, कुछ अनोखे ढंग से, सुघड़ता—पूर्वक। छल-कपट है, पर गंवारूपन से नहीं; बेईमानी है, पर विद्वता-पूर्वक ! ओफ ! इस अनुभव से अनुभवी होने की अपेक्षा, क्या मैं पहले ही अच्छा न था ? पहले श्रद्धा थी, अब नास्तिकता है। पहले आकर्षण था, अब विरक्ति है। पहले सान्निध्य के लिए लालायित रहता था, अब किसी के अति निकट होने से घबराता हूँ। मूर्खता का स्वर्ग—वास अच्छा है, या ज्ञान का नरक-वास ?

कहा है, 'संशयात्मा विनश्यति' ! क्या उपर्युक्त शंकामय जीवन से निस्तारा नहीं ? एक समाधान ध्यान में आ रहा है। पहाड़, नदी, मेघ आदि के दृश्य दूर से देखने के होते हैं। साहित्याचार्यों के दर्शन भी दूर से, उनकी लेखनी में, कर लिये जाया करें। जीवन-पृष्ठों की उलट-पुलट करने से सौन्दर्य विलुप्त होने की आशंका है। मनुष्य का रूप कितना मनोहर है, पर भीतरी चीराफाड़ी के रक्त-कांड में उसका सौन्दर्य अनुभव करने वाले वैज्ञानिक विरले ही होते हैं। हमारे जैसों को, 'बड़े' कहे जाने वाले साहित्याचार्यों के बहुत निकट जाने का निषेध रहना ही अच्छा है।

नकली लेखक—प्रत्येक युग में कुछ खास बीमारियों का प्राबल्य हुआ करता है; इस जमाने की भी कई देन हैं, जिन्हें विशेषतया बीसवीं शताब्दि या सभ्यता-काल की बीमारियाँ कहा जा सकता है। उनके वर्णन का यहाँ समय और स्थान नहीं है। उनके होने का मुझे विशेष दुःख भी नहीं। दुख है तो इस बात का कि साहित्य-सेवियों पर भी इस ज़माने में विशेष जादू चल गया है। बहुत सी रचनाएँ लेख और कविताएँ, जिन व्यक्तियों के नाम से प्रकाशित होती हैं, वास्तव में उनकी कृति नहीं होतीं; वे होती हैं, उनके वेतन-भोगी, मेहनताना पाने वाले कर्मचारियों की या उनके खुशामदियों, शिष्यों, या प्रेमियों की। धनी, जमींदार, रईस और नरेश पैसा खर्च करके अन्य अच्छी-अच्छी वस्तुएँ प्राप्त कर सकते हैं, तो अपनी ख्याति को बढ़ाने के लिए क्या उन्हें

कुछ ऐसे लेखकों की सेवा नहीं मिल सकती जो अपने नाम का मोह छोड़ कर,केवल दाम से ही संतुष्ट रहते हैं ?

महिलाओं के नाम से बहुधा ऐसे-ऐसे लेख प्रकाशित होते देखे गये हैं, जो उन बेचारियों की पहुँच से बहुत-कुछ बाहर होते हैं। कभी-कभी तो लेखक महाशय ऐसा कमाल कर जाते हैं कि वे अपने लेख पर ऐसी महिला (या पुरुष) का नाम रख देते हैं, जिसका इस भौतिक जगत में अस्तित्व ही नहीं होता। मैं इस मायामय संसार में बहुत कुछ छल कपट आदि देखने का अभ्यस्त हो गया हूँ, परन्तु फिर भी साहित्य-जगत के छल-कपट को देखकर तो कष्ट होता ही है।

विजय में पराजय—हम लोग प्रायः विजय की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, विजयी का आदर सम्मान करते हैं। विजयी का गुण-गान करने में काव्य और इतिहास गौरव अनुभव करते हैं। परन्तु क्या हमें तनिक यह न सोच लेना चाहिए कि कौनसी विजय वास्तव में विजय है ? कितनी ही विजय दरअसल पराजय होती हैं, पराजय से भी बुरी होती हैं। साहित्य-क्षेत्र की बात लीजिए। जिन लेखकों को सब से अधिक आदर, सम्मान और पारितोषिक, आदि मिलता है और जो 'पुरस्कार-विजेता' के नाम से घोषित होते हैं, क्या वे ही उसके सबसे अधिक अधिकारी होते हैं ? अनेक अभिनन्दन और पुरस्कार प्राप्त करने वालों की आन्तरिक कथा बड़ी चिन्तनीय प्रमाणित हुई है। किसी ने स्वयं उसके लिए 'कनवेसिंग' आदि प्रयत्न किये हैं; किसी के इष्ट मित्र मिल गये हैं, और उन्होंने इस कार्य का बीड़ा उठाया है। संस्थाएं यदि इससे रक्षा करने के लिए नियम बनाती हैं, और अच्छे निर्णय प्राप्त करने की व्यवस्था करती हैं, तो कितने ही व्यक्ति उन नियमों को ऐसी चतुराई से भंग करते हैं कि कानूनी दृष्टि से उन पर नियम भंग का आरोप नहीं किया जा सकता और वे निर्णायकों तक

पर अपना प्रभाव डाल कर उन्हें अपने पक्ष में लाने में सफल हो जाते हैं। इन बातों का रहस्य कभी जल्दी और और कभी देर में प्रकट होता है; तब पुरस्कार-विजेताओं की विजय का मूल्य कम रह जाता है और वह पराजय मालूम होने लगती है।

यह साहित्य-भक्ति !—हमारे लेखकों में राष्ट्रभाषा की निष्काम भक्ति, करने वाले महानुभाव प्रति शत, या प्रति सहस्र कितने हैं ? यों तो हमारे बहुत से भाई-बन्धु मित्र और पड़ौसी भी साहित्य-प्रेमी और साहित्य-सेवी आदि कहे जाते हैं। हम भी अपना नाम पाँच सवारों में लिखाने के प्रयत्न से कब चूकने वाले हैं; परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय की पड़ताल करे, तो प्रायः उसे अपनी न्यूनताएँ ज्ञात हो जाएँगी। उसे भली भाँति सिद्ध हो जाएगा कि वास्तव में वह इस महान पद का अधिकारी नहीं; वह साहित्य-भक्तों की श्रेणी में आने की क्षमता नहीं रखता। बात यह है कि हम भक्त बनने के लिए इतने चिन्तित नहीं, जितने इस बात के हैं कि हम भक्त प्रसिद्ध हो जाएँ। हम सौदा अच्छी तरह कर सकें, हम नफे में रहें, अथवा कम-से-कम हम घाटे का व्यापार तो न करें। हम ऐसी साहित्य-सेवा करना चाहते हैं, जिसमें हमें काफी आर्थिक पुरस्कार मिले। हम ऐसी नीति वाले पत्र के सम्पादक होना चाहते हैं, जिसके खूब ग्राहक हों, हम ऐसी पुस्तक लिखना एवं छपाना चाहते हैं, जो हाथों-हाथ बिक जाए; हम उस साहित्यिक संस्था में सहयोग करना चाहते हैं, जो महीना पूरा होते ही हमें यथेष्ट वेतनादि देने में समर्थ हो। आर्थिक बातों में हम कुछ मुलाहिजा कर भी जाएँ, सम्मान और कीर्ति-प्राप्ति में तो हम कोई समझौता करने को तैयार न होंगे। जहाँ इसका मी दिवाला निकलने की सम्भावना मालूम पड़ेगी, वहाँ से उसी दम हमारा त्याग-पत्र तैयार रहेगा।

यश-प्राप्ति के लिए हम कहाँ तक झुक जाते हैं। दूसरों की जूठन पाठकों के सामने परोसने में हमें कुछ संकोच नहीं, अपनी पुस्तक की अपने मित्रों-द्वारा प्रशंसा कराने में हम कोई बुराई नहीं मानते। हम

सम्पादकों और निर्णायकों के 'सुभीते' के लिए अपनी रचना की स्वयं समालोचना लिखकर भेज सकते हैं। अपने मित्रों और सखाओं या शिष्यों से हम यह भी तो अनुरोध कर सकते हैं, कि वे हमारे नाम से कोई बढ़िया मालूम होनेवाली चीज लिख दें। ओफ! हम सब कुछ कर सकते हैं, और फिर भी खम ठोककर साहित्य-भक्त के आसन पर विराजमान हो सकते हैं!

(२)
साहित्य-संकट

भारत में इस समय शिक्षा-प्रचार सोलह-सतरह फीसदी व्यक्तियों में हैं। यदि केन्द्रीय सरकार और राज्य-सरकारों ने ठीक काम किया तो अगले पांच वर्ष में पचास फीसदी जनता के प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर लेने की आशा है। इससे यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि निकट भविष्य में हिन्दी-पाठकों की संख्या कितनी तेज रफ्तार से बढ़नेवाली है। राजकाज में हिन्दी का अधिकाधिक उपयोग होने की दशा में प्रौढ़ आयुवालों में भी हिन्दी की ओर रुचि बढ़ेगी। इससे सर्वसाधारण की मानसिक भूख बढ़ेगी और उन्हें अधिकाधिक साहित्य की आवश्यकता होगी। पत्र-पत्रिकाओं पुस्तक-पुस्तिकाओं आदि की मांग बढ़ेगी।

साधारण अवस्था में इस बात से खुशी ही होनी चाहिए। पर वस्तु-स्थिति का देखकर हमारा मन आशंका से घिर जाता है। प्रायः मामूली आदमी को जब भूख सताती है तो वह बुरा-भला जो कुछ सामने आता है, उसे ही खाने लगता है। उसमें यह सोचने का धैर्य नहीं रहता कि जो वस्तु मैं खाता हूँ, वह हमारे स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है, या हानिकारक। इसका नतीजा यह होता है कि अकसर आदमी यह संतोष भले ही करलें कि हम भूखे नहीं रहे, पर वे अपनी जल्दबाजी से अपना स्वास्थ्य खो बैठते हैं। मानसिक भूखवालों की भी यही हालत होती है। यदि उन्हें पढ़ने की अच्छी सामग्री नहीं मिली तो वे घटिया और हानि-

कारक वस्तुओं का स्वागत करते हैं, फिर इससे उनके चरित्रादि की चाहे जो हानि हो।

कुछ समय हुआ मैंने देखा था कि एक नवयुवक को 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने का इतना शौक लगा था कि वह पुस्तकालय से हर रोज उसका एक भाग ले जाता और रात भर में उसे पढ़कर अगले दिन उसके अगले भाग की मांग किया करता था। इसे देखकर कुछ सज्जन खुश होते थे कि हिन्दी का प्रचार कैसा बढ़ रहा है! शिक्षा का प्रसार होने पर यदि इसी तरह के साहित्य की मांग बढ़ी तो राम-जाने इस देश की क्या दुर्गति होगी! वर्तमान अवस्था में हिन्दी में 'माया' जैसी पत्रिकाएँ एक-एक लाख तक निकलती हैं, और उनके पढ़ने वाले कई-कई लाख हैं। जब शिक्षा-प्रचार इस समय की अपेक्षा दुगुना-तिगुना हो जाएगा, तो ऐसे साहित्य की मांग कितनी बढ़ जाएगी और उसका क्या परिणाम होगा!

हम क्या कर रहे हैं ?—भारत-संतान को इस निकटवर्ती संकट से बचाने के लिए हम क्या कर रहे हैं? इस समय भी साधारण ग्रामीण पाठकों के लिए आल्हा-ऊदल, ढाला-मारू, चन्द्रकान्ता तथा लैला-मजनू, किस्सा तोता-मैना, आदि का ही महत्व है। कुछ फैशनेबल युवकों में किस्से कहानियों की पत्रिकाएँ आदर पा रही हैं, अथवा कुछ जासूसी उपन्यास या उत्तेजक नाटक आदि का स्वागत होता है। इस विनाशकारी लहर को रोकने के लिए देश में सरकारी या गैर सरकारी तौर पर क्या हो रहा है! और कुछ करने धरने की फिक्र ही किसे है!

परीक्षाओं की बाढ़—राज्य-सरकारों के सामने एक खास कार्य यह है कि प्रति वर्ष अमुक संख्या में नये स्कूल या पाठशालाएं खुल जाएँ। वे विविध परीक्षाएं लेती हैं और उनके लिए पाठ्यक्रम निर्धारित करती हैं। सरकारों की इस बात का अनुकरण अब सार्वजनिक संस्थाएँ भी अधिका-

धिक करती जा रही हैं; यहांतक कि परीक्षाएं चलाना एक बड़ा आमदनी का साधन समझा जाने लगा है। विविध स्थानों की परीक्षा-संस्थाएं अपनी-अपनी परीक्षाओं को राजमान्य कराने का उद्योग कर रही हैं जिससे उनकी परीक्षाओं के प्रति जनता का आकर्षण बढ़े, परीक्षार्थियों की संख्या अधिक हो, और फलस्वरूप परीक्षा-शुल्क के रूप में होनेवाली आय की वृद्धि हो। बहुधा भिन्न-भिन्न परीक्षा-संस्थाओं में एक दूसरे के प्रति प्रतिद्वन्दिता का भाव हो जाता है। हाल में, परीक्षा लेने वाली कितनी ही नयी संस्थाएं बन गयीं तथा बनती जा रही हैं।

पाठ्य पुस्तकों के चक्कर में; प्रोफेसर और शिक्षक—परीक्षाओं की संख्या तथा क्षेत्र बढ़ने का कुदरती नतीजा पाठ्य-पुस्तकों की मांग बढ़ना है। अनेक साहित्यिक संस्थाएं, प्रोफेसर, प्रकाशक, लेखक और डिग्रीधारी व्यक्ति किसी न किसी रूप में पाठ्य-पुस्तको के पीछे पड़े हुए हैं। टेक्स्टबुकों का जाल इतना बढ़ा हुआ है कि पढ़े-लिखे आदमी प्रायः यह सोचने लगते हैं कि और कुछ न हो तो इसी रोजगार को अपनाना चाहिए। खेद है कि अनेक संस्थाएं और सज्जन, जिनसे देश और समाज बड़ी-बड़ी आशाएं करता है, अब टेक्स्टबुकों के चक्कर में रहते हैं। कितने ही प्रोफेसरों को रीडरबाजी का शौक होतेहै। पहली कक्षा से लेकर चाहे जिस कक्षा तक की रीडर लिखने को ये तैयार बैठे रहते हैं; शर्त यही है कि रायल्टी की आमदनी अच्छी होने का भरोसा हो। कुछ प्रोफेसर तो अपने बी० ए०, एम० ए० के विद्यार्थियों से या किसी अन्य मित्र आदि से काम कराकर पुस्तक पर नाम अपना दे देते हैं। ये हस्तलिखित प्रति को जरा इधर-उधर देख लेते हैं, और कभी-कभी उसके विषय में कुछ सुझाव दे देते हैं। पुस्तक पर इनका नाम होने से उसके मंजूर होने की बात प्रायः निश्चित ही रहती है। कुछ महानुभाव अपनी पुस्तक टेक्स्टबुक कमेटी में मंजूर कराने के लिए और भी तरह-तरह की चालें चलते हैं। मतलब यह कि अधिकांश डिग्री-कालेजों के

अध्यापक साहित्य की यथेष्ट सेवा नहीं करते, वे अपने अवकाश का, जो आवश्यकता से अधिक होता है, दुरुपयोग करते हैं, या निन्नान्बे के फेर में पड़े रहते हैं।

हमारे स्नातक और डिग्रीधारी—आवश्यकता है कि प्रोफेसर लोग स्वयं तो हिन्दी-साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति में लगें ही, वे अपनी देख-रेख में काम करनेवाले प्रौढ़ विद्यार्थियों या अनुसंधान-छात्रों (रिसर्च-स्कालरों) को भी ऐसी प्रेरणा करें कि उनमें से हर एक हिन्दी भाषा में कम से कम एक अच्छी कृति अवश्य ही तैयार करे। हमारे स्नातकों में अधिकांश कुछ लेखन-कार्य तभी करते हैं, जब उन्हें 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त करने के लिए कोई "थीसिस' (निबन्ध) लिखना होता है। पहले यह 'थीसिस' अंगरेजी में ही लिखा जाता था, अब हिन्दी में भी लिखा जाने से हिन्दी में कुछ अच्छी पुस्तकें आने का एक मार्ग प्रशस्त हो गया है। परन्तु अधिकांश स्नातकों की यह 'थीसिस' ही उनकी प्रथम तथा अन्तिम कृति होती है। फिर, इन्हें कुछ साहित्य-सेवा करने की प्रेरणा भी मिले तो कहां से! अपने गुरुजनों—प्रोफेसरों और विभागाध्यक्षों—की देखा-देखी ये भी थोड़े बहुत समय में टेक्स्टबुकों के चक्कर में आ जाते हैं।

शिक्षा विभाग—कैसा कुचक्र है! लेखक तो प्रकाशकों पर निर्भर हैं; और प्रकाशक शिक्षा-विभाग की योजनाओं के अनुसार अपने कार्यक्रम निर्धारित करते हैं। राज-भाषा हिन्दी के विविध अंगों की पूर्ति कैसे हो! शिक्षा विभाग के द्वारा कैसी पुस्तकें स्वीकार की जाती हैं—उसमें क्या नीति अनीति बर्ती जाती है—यह बड़ा रहस्यमय विषय है। उसके विवेचन में हम नहीं जा सकते। हमें तो यहां यही कहना है कि टेक्स्टबुक कमेटियों की यदि 'शुद्धि' हो जाए (जो सहसा संभव नहीं प्रतीत होता), तो भी हमारा उद्देश्य सिद्ध होने वाला नहीं है। आखिर, कितनी पुस्तकों को पाठ्यक्रम में स्थान मिल सकता है! साहित्य के विविध अङ्गों की

पूर्ति के लिए आवश्यक है कि ऐसी उत्तमोत्तम पुस्तकें भी काफी छपें, जो पाठ्यक्रम में स्थान न पाएं।

पाठकों का उत्तरदायित्व—इस प्रकार अच्छे साहित्य के निर्माण तथा उसके विविध अंगों की पूर्ति बहुत-कुछ हमारे पाठकों पर निर्भर है। यह ठीक है कि बहुत से विद्यार्थी इतने निर्धन होते हैं कि उन्हें अपनी पाठ्य पुस्तकें भी खरीदना मुश्किल होता है। तथापि यह चिंतनीय है कि उनकी अच्छे साहित्य में रुचि नहीं है। खासकर कालेजों के हमारे कितने ही विद्यार्थी ऐसे भी तो हैं, जो अपने तरह तरह के शौक पूरा करने के लिए काफी रुपया खर्च करते रहते हैं, उन्हें पान, सिगरेट, जलपान, सिनेमा, शर्वत आदि के लिए पैसा खर्च करने में संकोच नहीं होता, पर टेक्स्ट-बुकों के अतिरिक्त कोई दूसरी पुस्तकें खरीदने के लिए उन्हें सदैव धनाभाव रहता है; कोई पुस्तक बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुई तो उसे दूसरों से माँग कर अपनी इच्छा पूरी करने की बात सोचते हैं। साधारण लोगों में विवाह-शादी आदि के अवसर पर जेवर आदि माँग कर काम चलाने की रीति है, और पढ़े लिखों में किताबें माँगने की परिपाटी चल रही है!

निजी पुस्तकालय का महत्व—बात केवल विद्यार्थियों की ही नहीं है। हमारे अध्यापक, प्रोफेसर आदि भी किताबें खरीदने में बड़े कंजूस रहते है। पुस्तक उनकी कोई ऐसी आवश्यकता नहीं है, जिसकी पूर्ति करनी अनिवार्य हो। जरूरत है कि प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपना एक निजी पुस्तकालय बनाए, उसमें केवल ऐसी ही पुस्तकें न हों जो बिना मूल्य भेंट-स्वरूप मिले। हम में से हर एक के निजी पुस्तकालय में हमारी खरीदी हुई पुस्तकों का काफी भाग होना चाहिए। ऐसी रुचि बढ़ने से ही साहित्य-वृद्धि की कुछ आशा हो सकती है। हम स्मरण रखें कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ अच्छी पुस्तकें खरीदता है, वह उस सीमा तक प्रकाशकों को अच्छी पुस्तकें छपाने की

प्रेरणा करता है, और परोक्ष रूप से लेखकों को अच्छी पुस्तकें लिखने के लिए प्रोत्साहन देता है। भारत में अभी पढ़े-लिखों की संख्या कम है, तथापि जितने व्यक्ति हिन्दी की सातवीं-आठवीं श्रेणी से अधिक योग्यता वाले हैं, वे साल भर में (टेक्स्ट बुकों के अतिरिक्त) औसतन एक-एक अच्छी पुस्तक खरीदने का निश्चय कर लें तो अच्छे साहित्य की कितनी माँग बढ़ सकती है, और फलस्वरूप उसकी कितनी पूर्ति हो सकती है इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

हिन्दी के गौरव का प्रश्न—हमारी साहित्यिक संस्थाएँ हमारे वर्तमान शिक्षक और भावी सूत्रधारों की स्थिति देख-कर किसे हार्दिक वेदना न होगी ! हमारे विद्वानों को यह कहते हुए कुछ दर्द नहीं होता कि हिन्दी में यह नहीं है, वह नहीं है; इसके विपरीत अंगरेजी में यह है, वह है और क्या नहीं है। हम इन बातों को कब तक कहेंगे ? और हाँ, कब तक सुनेंगे ? वर्ष ? दो वर्ष ? दस वर्ष ? हिन्दी माता ! तू स्वतन्त्र भारतीय संघ की कई इकाइयों की और स्वयं भारतीय संघ की राजभाषा हो गयी है। तू भारत की राष्ट्रभाषा है, उस भारत की जो कभी महान था और फिर महान होने की आशा करता है। पर भारत महान होगा कैसे, जब तक उसकी संतान तेरी सेवा में तन मन धन से नहीं लग जाएगी, जब तक उसके कलम का धंधा करने वाले या तो तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों, कहानियों, 'प्रेम-रस' की गजलों और तोते-मैने के किस्सों के गढ़ने में लगे रहेंगे या टेक्स्ट-बुकों या पाठ्य पुस्तकों की रचना को ही साहित्य-निर्माण का कार्य समझेंगे !

विशेष वक्तव्य—भारत महान है तो हिन्दी को महान होना ही चाहिए। उसके कुछ अंगों का साहित्य भी काफी ऊँचा है। पर उससे हमें संतोष नहीं कर लेना है। उसके किस किस अंग में क्या कमी है—इस विषय की अच्छी तरह छानबीन होनी चाहिए। और उस कमी को

पूरा करने में मैं (विद्यार्थी, अध्यापक, लेखक, या प्रकाशक या अथवा साधारण पाठक आदि के रूप में) कहाँ तक सहायक हो सकता हूं—यह प्रश्न है जिसे सोचकर प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी का अपना कर्त्तव्य निर्धारित करना है। क्या हम हिन्दी वाले, हिन्दी का अभिमान करने वाले और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा ही नहीं विश्व की एक प्रमुख भाषा बनाने का स्वप्न देखने वाले अपना अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे ?

(३)

कुछ साहित्यिक भावनाएँ

माथे पर नाम की सूचना—एक दिन एक महाशय ने कहा "केला जी। आपके नाम से तो बहुत से व्यक्ति परिचित हैं, पर आप पब्लिक में कम आते-जाते हैं, अतः जनता आपको पहचानती नहीं। अच्छा हो, आपके मस्तक पर आपके नाम का साइन-बोर्ड लगा हो, फिर आप देखेंगे कि आप बहुत कम स्थानों मे अपरिचित रह सकेंगे।" इस हास्य में कुछ तत्व हो, और मस्तक पर साइन-बोर्ड की कल्पना ही करनी हो तो नाम को जगह भाव और विचार की विज्ञप्ति क्यों न की जाए। मैं तो सोचता हूँ कि लोग आकृति को भूले ही रहें, और साथ ही नाम को भी भूल जाएँ, केवल काम की ही कदर करें, उसे प्रोत्साहन प्रदान करें। मस्तक पर साइन-बोर्ड ऐसा लगे जो तमाम चेहरे को छुपा कर, केवल 'भारतीय ग्रन्थमाला' की सूचना दे। तब इस बात की परीक्षा हो जाएगी कि जो लोग अब मुझे अपना मित्र, बन्धु या रिश्तेदार आदि समझ कर कुछ प्रेम करते हैं उनमें से कितने शुद्ध साहित्य-प्रेमी हैं।

व्यक्ति का फोटो या काम का परिचय—ऐसी ही एक और बात है। कुछ समय से कुछ महाशय मुझे एक साहित्य-सेवी समझने लग गये हैं। सम्भव था कि मैं इस बात

से बहुत प्रसन्न होता कि मेरी भी गिनती बड़े आदमियों में होने लग गयी। पर इस में एक उलझन खड़ी हो गयी। वे चाहते हैं कि पत्र-पत्रिकाओं में मेरा फोटो छपे और साथ में मेरा कुछ परिचय भी रहे। मेरा नम्र निवेदन है कि मेरे हाड़-मांस के क्षुद्र से पुतले के फोटो में क्या रखा है। यदि आप मुझ पर कृपा ही करने पर तुले हैं तो मेरी भली-बुरी रचनाओं का, न-कुछ भारतीय ग्रन्थमाला का परिचय अर्थात् शब्द-चित्र प्रकाशित करें। पर इसके लिए बहुत कम सज्जनों को अवकाश, सुविधा या क्षमता है। साथ ही उन्हें वह भी शंका हो सकती है कि रंग-बिरंगे सचित्र साहित्य के जहाँ इतने ग्राहक मिल जाते हैं, वहाँ इस नये प्रकार के विचित्र साहित्य के पाठक तो उन्हें ढूँढे से ही मिलेंगे। संसार व्यक्तियों की अपेक्षा कृतियों को कब पूजेगा?

———

सतरहवाँ अध्याय

वृन्दावन से प्रयाग

जहाँ राह का अन्त होगा, वहीं से
थकी जिन्दगी की नयी राह होगी।
नया लक्ष्य होगा अगर दूर भी तो,
हृदय में उसी की नयी चाह होगी॥

—अमरेश

वृन्दावन-वास—वृन्दावन रहते हुए धीरे-धीरे बीस साल हो गये। पर मैंने अपना यहाँ का रहना कभी कुछ स्थायी नहीं समझा। जब मेरी पत्नि ने यहाँ मकान लिया और उसे आवश्यकतानुसार बनवाया तो मैंने इसे एक बन्धन ही समझा। कुछ लोग वृन्दावन-वास को बहुत महत्व दिया करते हैं। प्रायः बंगालियों को ब्रजवासियों के प्रति बहुत श्रद्धा रहती है। मेरे मन में ऐसी कुछ भावना न थी। तथापि यह बात नहीं थी कि वृन्दावन के निवास से मुझे कभी शान्तिदायक विचार या उच्च प्रेरणा न मिली हो। वहाँ जमुनातट पर अनेक बार सवेरे शाम जाना हुआ है। प्रेम महाविद्यालय तो घाटों पर ही बना है। घाट बहुत-कुछ टूट गये हैं, और जमुना की धारा दूर हो जाने के कारण उनकी शोभा कम हो गयी है, तो भी विचार करने वाले के लिए यह स्थान अद्भुत शान्ति और आनन्द देने वाला है। यहाँ बस्ती और बाजार के कोलाहल से मुक्ति मिलती है और प्राकृतिक दृश्यों के एकान्त सेवन का अवसर मिलता है। यद्यपि मेरी यह इच्छा रही है कि भारत-भूमि के सभी स्थानों को पवित्र और पूजनीय मानूँ, खासकर वृन्दावन में कभी-कभी ऐसे क्षण बीते हैं, जब मैंने सोचा है कि यह वह स्थान है, जहाँ

गौरांग महाप्रभु और भगवान कृष्ण ने अपनी लीलाएँ कीं। जब-जब ऐसा विचार आया तो मैंने मन में बड़ा गर्व और आनन्द अनुभव किया।

सुधार की भावना—कई बार मन में यह भी विचार आया कि वृन्दावन-वासी उन महापुरुषों के जीवन से शिक्षा लेते हुए युग-धर्म का पालन करें। लोक-चरित्र की दृष्टि से वृन्दावन को एक आदर्श नगर बनना चाहिए—यहाँ की जनता का आचार-विचार और व्यवहार आदर्श-रूप होना चाहिए। बाहर के यात्री आवें तो देखें कि यह वास्तव में तीर्थ है। यहाँ लेन-देन और व्यापार व्यवसाय में शुद्धता और सेवाभाव, सत्य और अहिंसा हो, धोखा-धड़ी, छल-कपट, मिलावट आदि का नाम न हो; कोई आदमी दूसरे के प्रति अपशब्द कहने वाला न हो; रिश्वत, मुनाफेखोरी या भ्रष्टाचार आदि की कोई बात न हो। मादक पदार्थों का सेवन बिलकुल बन्द हो, यहाँ तक कि बाहर से आने वाले यात्रियों को यहाँ बीड़ी-सिग्रेट आदि पदार्थ भी कहीं न मिलें, और उन्हें संयमी जीवन बिताने पर मजबूर होना पड़े। यह बात आरंभ में उन्हें अखरेगी, किन्तु पीछे उन्हें ऐसा अभ्यास हो जाएगा कि इन चीजों के अभाव से उन्हें कुछ कष्ट न होगा। वे सोचने लगेंगे कि तीर्थ-यात्रा करनी है तो इन चीजों का उपयोग नहीं करना चाहिए। एक बार मेरे मन में आया था कि यदि आठ-दस सज्जन कुछ दृढ़ विचारों वाले मिल जाएँ तो मादक पदार्थ-निषेध का आन्दोलन करते हुए शराब बेचने वाली दुकान पर धरना दिया जाए। पहले प्रारम्भ मैं करूँ, फिर एक के बाद दूसरे का सिलसिला बना रहे। इस बात की कुछ मित्रों मे चर्चा हुई, पर यह कार्यरूप में परिणत न हुई।

सार्वजनिक कार्य—सार्वजनिक कार्यों में क्रियात्मक रूप से भाग लेने की प्रायः मेरी प्रवृत्ति नहीं रही। पर समय-समय पर कुछ प्रसंग आता रहा। 'प्रेम'-सम्पादन-काल में मैं लगभग साल भर कांग्रेस कमेटी का मंत्री रहा, पीछे खासकर राष्ट्रीय आन्दोलन की तेजी के समय

सभाओं में भाषण देने का भी काम रहा। सन् १९३२ में मैं म्युनिसपल शिक्षा-समिति का सदस्य चुन लिया गया, और पीछे सभापति बना दिया गया। तब मैं समय-समय पर स्कूलों के निरीक्षण के लिए गया और उनकी उन्नति के सम्बन्ध में कुछ सुझाव रखता रहा। अध्यापक-सभा की बैठकों में आमंत्रित किये जाने पर मैं वहाँ भी जाता और उसके प्रस्तावों आदि पर अपना दृष्टिकोण उनके सामने रखता; इस प्रकार अध्यापकों और अधिकारियों में मध्यस्थ का काम देता। कुछ समय बाद म्युनिसपल शिक्षा-समिति की मीटिंग में अरुचिकर बातें होने लगीं; दलबन्दी, पक्षपात, सिफारिशों और शाब्दिक वाद-विवाद आदि की बातों से ग्लानि प्रतीत हुई। अगले वर्ष मेम्बर (और सभापति) होने की इच्छा न की थी, पर मित्रों ने फिर चुन लिया। किन्तु, वर्ष के बीच में मेरा बाहर (नागपुर) जाना और अधिकांश वहाँ ही रहना हुआ। इस प्रकार मैं सभापति न रहा, पर मेरा नाम सदस्यों में बना रहा। अन्ततः वहाँ से लौटने पर मैंने त्याग-पत्र दे दिया।

प्रयाग जाने का निश्चय—वृन्दावन में मेरा जीवन कितना एकाकी रहा, यह एक बात से स्पष्ट हो जाएगा। एक बार मैं किसी मीटिंग में गया था। अकस्मात मैं अपने पास बैठे हुए सज्जन से पूछ बैठा 'आप कहाँ रहते हैं।' उन्होंने उत्तर दिया। 'जनाब! वर्षों से आपके पिछवाड़े के ही मकान में रह रहा हूँ।' वास्तव में मुझे अपने काम से मतलब रहता था, वैसे ही किसी के पास जाने और बैठने की इच्छा नहीं होती थी। ऐसी दशा में मैं वृन्दावन में रहा तो और कहीं दूसरी जगह रहा तो—इससे कुछ अन्तर नहीं आता। हाँ, बाहर रहने से यह परिवर्तन अवश्य होता कि घर के वातावरण से छुट्टी मिल जाती। यों ग्रन्थमाला के कार्य से साल में एक-दो माह के लिए बाहर जाना होता ही था। कुछ वर्ष मध्यप्रान्त तथा इन्दौर आदि की यात्रा नियमित रूप से हुई। दुबे जी के पास आने का प्रसंग बढ़ने पर मेरा बाहर रहने का समय और बढ़ गया। एक साल (१९३६) तो कुल

मिला कर पाँच-छः माह बाहर रहा। क्रमशः यह विचार मन में आता रहा कि अधिक-से-अधिक समय बाहर बिताया जाय। सन् १६४० में मेरे पुत्र ओमप्रकाश की मेट्रिक की परीक्षा थी। इसके आगे की पढ़ाई के लिए यद्यपि मथुरा में इंटर कालिज था, पर ओमप्रकाश भविष्य में डाक्टरी की तैयार की दृष्टि से सायंस (विज्ञान) लेना चाहता था और उसकी मथुरा में व्यवस्था न थी। इस प्रकार ओमप्रकाश के आगे पढ़ने के लिए उसका वृन्दावन-मथुरा से कहीं बाहर ही रहना आवश्यक था।

मेरी इच्छा थी कि ओमप्रकाश खर्च की दृष्टि से और वैसे भी होस्टेल में न रहे, शहर में ही रहे; और मैं भी उसके साथ रहूँ। कुछ सोच-विचार के बाद प्रयाग रहने का निश्चय किया गया। पर यहाँ कुछ स्थायी निवास करने की योजना न थी। इसलिए ग्रन्थमाला सम्बन्धी सब समान एक-साथ वहाँ नहीं ले जाना था। साथ ही यह भी सहसा निश्चय नहीं किया जा सकता था कि कितना स्टाक, कौन-कौन सी दूसरी पुस्तकें तथा अन्य चीजें वहां ले जाना ठीक होगा। दुकान एक जगह से दूसरी जगह ले जाना कठिन होता ही है, यह कठिनाई इस विचार से और बढ़ी हुई थी कि स्थान-परिवर्तन कितने समय के लिए है, इसका ठीक निश्चय नहीं था। अस्तु, जैसी समय पर बन आयी, जाने की तैयारी की गयी।

विशेष वक्तव्य—प्रयाग आने के निश्चय का स्थूल आधार ओमप्रकाश की इंटर की पढ़ाई थी; इस प्रकार प्रयाग-वास की अवधि का अनुमान साधारणतया दो साल का था। उसके बाद क्या होगा, इस बात को न सोचा गया, और ख्वाहमख्वाह उसे सोचने की ज़रूरत भी नहीं समझी गयी। मेरी कल्पना और आशा यही रही कि प्रयाग काफी समय रहा जाएगा।

अठारहवाँ अध्याय

एकान्त साधना

अगर आप पहाड़ की गुफा में जाकर वास करेंगे तो भी आपकी विचारधारा पर्वत की प्राचीर को भेद कर बाहर निकल पड़ेगी। सम्भव है, सैकड़ों वर्ष कोई आश्रय न पाकर वह सूक्ष्म रूप में संसार में भ्रमण करे, लेकिन एक-न-एक दिन वह किसी मस्तिष्क का आश्रय लेगी ही। तब उस विचारधारा के अनुसार कार्य होगा निष्छलता, पवित्र विचार और शुद्ध भावना में असीम बल होता है।

—विवेकानन्द

न्यूटन ने किसी लेख पर अपना नाम देना इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि नाम के प्रकाशित होते ही उनके परिचितो की संख्या में वृद्धि हो जाएगी, जो उनके कार्य में विघातक होगी।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

नया वातावरण; एकान्त जीवन—प्रयाग रहने में मुख्य लक्ष्य ग्रन्थमाला का काम अधिक अच्छी तरह करना था। इस लिए आवश्यक था कि लोगों से मिलने-जुलने, नया परिचय बढ़ाने आदि की बातों पर यथा-सम्भव नियंत्रण रखा जाए। इसमें विशेष कठिनाई यह थी कि प्रयाग शिक्षा और साहित्य का एक बड़ा केन्द्र है, विद्वानों और लेखकों का यहां खूब जमाव है; उनसे किसी विषय की रचना में बहुत जानकारी प्राप्त हो सकती है। साहित्यिक संस्थाओं का यहां कुछ अन्त नहीं। हर रोज कई-कई संस्थाओं के तरह-तरह के कार्यक्रम चलते ही रहते हैं। इनमें

भाग लेने वाले का, अन्य लाभ के अतिरिक्त, परिचय-क्षेत्र भी बढ़ता है। पर मुझे इन बातों में अपने काम के लिए खतरा ही मालूम हुआ। मेरी दृष्टि यही रही कि मुझे अपने स्थान पर बैठ कर लिखने-पढ़ने का कार्य करना है, जितना समय बाहर घूमने-घामने में लगेगा उतनी ही इस कार्य को क्षति पहुँचेगी; इसलिए यथा-सम्भव सबसे बचा ही जाए।

सरल नागरिक शास्त्र—प्रयाग आने से पहले ही यह निश्चय हो गया था कि मुझे सम्मेलन के लिए एक पुस्तक 'इंटर की सीविक्स'—लिखनी है। वृन्दावन रहने पर यह काम नहीं हो सका था। अब मैंने यह कार्य आरम्भ कर दिया। इस पुस्तक के सम्पादक दुबे जी नियत हुए थे, जो एक अर्थशास्त्री थे। नागरिकशास्त्र के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ने में सम्भवतः यही दृष्टि रही होगी कि पुस्तक पर एक डिग्रीधारी प्रोफेसर का नाम आजाने से पाठकों पर उसकी प्रामाणिकता की छाप कुछ गहरी बैठेगी। अस्तु, मैंने धीरे-धीरे पुस्तक लिख दी। अपनी आदत के अनुसार मैंने इसे यथा-सम्भव छोटी ही रखा; दोनों पश्न-पत्रों का विषय एक ही पुस्तक में ले लिया। लोक-रुचि के अनुसार मुझे चाहिए था कि प्रत्येक प्रश्न-पत्र के लिए अलग-अलग पुस्तकें कम से कम इतने-इतने आकार की तैयार करता।

इसी समय सम्मेलन की ओर से मेरी 'कौटल्य की शासन-पद्धति' छपने की भी व्यवस्था हो गयी, जिसकी हस्तलिखित प्रति मेरे पास कई वर्ष से पड़ी थी।

'साम्राज्य और उनका पतन'—सन् १९२० में मैंने 'प्रेम' में 'साम्रज्यों का जीवन-मरण' शीर्षक तीन लेख लिखे थे। इस विषय को स्वतन्त्र पुस्तक लिखनी सन् १९३० में आरम्भ की गयी थी। बीच में कई बार काम रुका; आखिर, १९३६ में यह पूरी की गयी परन्तु आर्थिक सुविधा न होने से यह कई वर्ष छपने ही न पायी। इस बीच में मित्रवर श्री सत्येन्द्र ने इसे देख कर अपना परामर्श देने की कृपा की। प्रयाग आने पर पंडित सुन्दरलाल जी से इसके सम्बन्ध में विचार-

विनिमय हुआ। आपने मुझे कई बातें सुझाईं और इसकी भूमिका लिखने का भी अनुग्रह किया। इस प्रकार संशोधित होकर यह पुस्तक १६४० में पाठकों के हाथों में पहुँची।

पंजाब-कश्मीर यात्रा—ग्रंथमाला की स्थापना के बाद मेरी अधिकतर यात्राएँ इसी के प्रचार आदि के निमित्त हुईं। अन्य यात्रा करने की न आर्थिक दृष्टि से सुविधा हुई और न कुछ रुचि ही हुई। सन् १६४१ में दुबे जी ने सम्मेलन की पंजाब और कश्मीर में होने वाली परिक्षाओं का क्षेत्र बढ़ाने की योजना बनायी, और इसके लिए प्रचारक के रूप में मुझे वहाँ भेजने का निश्चय किया। मैंने जून-जुलाई में साहित्य-सदन (अबोहर) के प्रमुख कार्यकर्ता श्री तेगराम जी के साथ यह यात्रा की। हम भटिंडा, जैता, लाहोर, गुजरात, गुजरांवाला, लालामूसा, जेहलम, रावलपिंडी, श्रीनगर, मार्तंड और जम्मू तथा लुधियाना और पानीपत आदि स्थानों में गये और यहाँ के शिक्षकों, पत्र-सम्पादकों तथा अन्य कार्यकर्ता या अधिकारियों से मिले और, सम्मेलन-परीक्षाओं के लिए उनकी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त किया गया।

देशी राज्यों सम्बंधी साहित्य—अगरेजों के शासन-काल में कुछ तो सरकार ने हमें अपने देशी राज्यों के बारे में सोचने या लिखने का अवसर न देकर बाधाएँ ही उपस्थित की, और कुछ लेखकों ने भी उनकी उपेक्षा की। भारतीय शासन या भारतीय अर्थशास्त्र आदि विषयों की पुस्तकों में देशी राज्यों सम्बन्धी जानकारी नहीं दी गयी, अथवा बहुत ही कम दी गयी। ऐसी सामग्री देना कुछ कठिन था, पर आवश्यक था। अस्तु, मैंने 'भारतीय शासन' के पहले संस्करण (१६१५) में भी एक अध्याय 'देशी रियासतें' रखा था। पीछे भी उनका, खास कर राजस्थान का विषय मेरे सामने रहा। इस विषय की स्वतन्त्र पुस्तक लिखने का विचार मैंने सन् १६२६ में ही कर लिया था, पर कुछ आवश्यक सामग्री की इन्तजार रही। पीछे दूसरी पुस्तकों के काम में लग गया, इससे उसका काम रुका रहा। अब बारह वर्ष बाद फिर इसकी ओर ध्यान दिया।

श्री सिद्धराज ढड्डा—इस बीच में यह भी विचार हुआ कि मित्रवर श्री सिद्धराज ढड्डा इस कार्य-भार को संभाल लें। आप की लोकोपयोगी साहित्य की ओर रुचि थी, और सेवा-भावना उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। आपने इस पुस्तक के लिए पत्र-व्यवहार करके कुछ सामग्री जुटाई, पर लिखने की आर का सुविधा न हुई। आखिर, आपने संग्रह की हुई सामग्री मेरे पास भेज देने की कृपा की, साथ ही पुस्तक की तैयारी, प्रकाशन और प्रचार में यथेष्ट सहानुभूति रखी। पीछे भी आपका स्नेह-सम्पर्क बना रहा। आप की वृत्ति लोकसेवा की ओर रही, और राजस्थान का मन्त्रि-पद छोड़ने के बाद आप अब जोधपुर में, खीमेल गाँव में सर्वोदय केन्द्र का संचालन और 'ग्राम-राज' पत्र का सम्पादन करते हैं। भू-दान-यज्ञ में आप उत्साह पूर्वक भाग ले रहे हैं।

श्री पूर्णचन्द जैन और हीरालाल शास्त्री—देशी राज्य शासन के सम्बन्ध में मैं जयपुर गया। वहाँ खासकर 'लोकवाणी' सम्पादक श्री पूर्णचन्द जैन से कई रियासतों सम्बन्धी सामग्री और सूचनाएँ मिलीं। आप कवि और लेखक होने के अतिरिक्त रचनात्मक कार्य करने वाले हैं। आपके व्यवहार में सरलता और भ्रातृभाव मिला। आपका स्नेह पीछे बढ़ता ही गया।

इस पुस्तक के प्रकाशन और प्रचार में सहयोग प्राप्त करने के लिए मैं श्री हीरालाल शास्त्री से वनस्थली में मिला। यह जानकर कि वनस्थली विद्यापाठ के निर्माण में अकेले इनका कितना हाथ है, और ये कितना रचनात्मक कार्य कर चुके हैं, इनके प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक था।

अन्य सज्जनों का सहयोग—जोधपुर में पुराने पत्रकार श्री अचलेश्वरप्रसाद शर्मा 'प्रजा-सेवक' का निर्भीकता-पूर्वक सम्पादन कर रहे थे, और साथ में आर्थिक कठिनाइयों से भी जूझ रहे थे। आपने अपने पास से इस पुस्तक के लिए कई उपयोगी चीजें दीं। श्री जयनारायण जी व्यास रियासती आन्दोलन में व्यस्त थे, और उसके लिए

सहानुभूति होना स्वाभाविक ही था। आप से भी कुछ सामग्री मिली। श्री रणछोड़दास गद्दाणी ने भी कुछ विचार-विमर्श करने की कृपा की।

इनके अतिरिक्त श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, विजयसिंह 'पथिक' और सिद्धनाथ माधव आगरकर से भी इस पुस्तक के विषय में बहुत सहायता मिली। आखिर, सन् १९४२ में मेरी 'देशी राज्य शासन' तैयार हुई। इसके छपते छपते अगस्त आन्दोलन आ गया। बहुत से मित्रों के पास पुस्तक जेल में ही भेजी गयी, किसी को मिली, और किसी को नहीं मिली। कार्यकर्ताओं में से अधिकांश ने इसका खूब स्वागत किया। अपने विषय की यह पहली ही पुस्तक थी।

इसका पहला संस्करण १९४६ में समाप्त हो गया था, पर कागज मिलने की कठिनाई के कारण दूसरा संस्करण १९४७ में छपाया जा सका। इस समय 'देशी राज्यों की जन-जागृति' नाम की एक दूसरी पुस्तक भी तैयार कर ली गयी थी। अब देशी राज्यों का अलग अस्तित्व नहीं रहा है, वे भारतीय संघ के ही अंग हो गये हैं। मुझे हर्ष है कि मैं भारत के इस उपेक्षित अंग के सम्बन्ध में पाठकों को उपर्युक्त दो पुस्तकें भेंट कर सका।

श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी—'देशी राज्य शासन' के सम्बन्ध में श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी का उल्लेख ऊपर हुआ है। पहले जब मैं वृन्दावन था, सत्येन्द्र जी द्वारा इनसे मथुरा में मिलने का प्रसंग आया था। पर एक स्थान के आदमी जब कहीं दूर जाकर मिलते है तो उसमें प्रायः कुछ विशेष स्नेह और सहानुभूति रहती है। जो हो, चतुर्वेदी जी को जब कुछ समय प्रयाग रहना हुआ तो आप समय-समय पर मुझसे मिलते रहे और अपना सहयोग प्रदान करते रहे। कई देशी रियासतों के बारे में आपकी प्रत्यक्ष जानकारी थी। आपने उससे मुझे लाभ पहुँचाया। आप से जल्दी ही बहुत घनिष्ठता हो गयी। पीछे आप देहली चले गये तो भी आप से सम्पर्क बना रहा; बहुत व्यस्त रहते हुए भी आप वहाँ मेरा आवश्यक कार्य करते रहे। आपने मेरी

कई पुस्तकों की समालोचना पत्रों में प्रकाशित करायी और उनके प्रचार में योग दिया। 'देशी राज्यों की जन-जागृति' की भूमिका आप की ही लिखी हुई है।

प्रयाग रहने की अवधि बढ़ी—ओमप्रकाश की इंटर की परीक्षा नजदीक आने के साथ मेरे प्रयाग-वास की पूर्व अनुमानित अवधि-समाप्त होने को आ रही थी। यद्यपि मैं चाहता था कि यहां अधिक समय तक रहना हो जाए, और यह आशा भी कर रहा था कि ऐसा ही होगा, तथापि मुझे इस विषय की कोई खास चिन्ता न थी। सोचता था, जैसा होगा, देखा जाएगा। आखिर, ओमप्रकाश की परीक्षा का परिणाम निकल आया। वह पास हो गया, पर तीसरे डिविजन में रहा। इससे उसके मेडिकल (डाक्टरी) लाइन में जाने का बात समाप्त हो गयी। अब सिवाय आगे पढ़ने के, उसे कोई मार्ग न दिखायी दिया; और, बी० ए० में पढ़ना है तो इलाहाबाद ही ठीक है। वह जुलाई में यूनिवर्सिटी में दाखिल हो गया। इस प्रकार आगे दो वर्ष के लिए और भी मेरे यहाँ ही रहने की बात हो गयी।

श्री गोरखनाथ चौबे—प्रयाग में दो वर्ष रहने के बाद मेरा एक ही सज्जन से नया परिचय हुआ। चौबे जी राजनीति-साहित्य में विशेष रुचि रखते थे। आपने इसी समय लिखना शुरू किया था। अच्छा प्रकाशक मिल जाने से इनकी पाठ्य पुस्तकों का खूब प्रचार हुआ, खासी आय भी हुई। पीछे आपने कुछ दूसरी पुस्तकें भी लिखीं। कई वर्ष तक आप से समय-समय पर मिलना भेंटना होता रहा। आपसे खासकर राजनीति साहित्य सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार-विनिमय होता था।

युद्ध-काल में प्रकाशन-संकट—दूसरा यूरोपीय महायुद्ध सन् १९३९ से चल रहा था। धीरे-धीरे इसके कारण परिस्थिति अधिकाधिक चिन्तनीय होती गयी। साहित्यकारों के लिए विशेष संकट यह था कि कागज पर नियंत्रण था, भले आदमियों को वह परिमित मात्रा में, और

बड़ी मुश्किल से मिलता था। चोरबाजारी, मुनाफे और रिश्वतखोरी का बाजार गर्म था। भारतीय ग्रन्थमाला की पुस्तकें पाठकों के लिए इन बातों का निषेध करती थी, तो अपने लिए इस रास्ते को कैसे अपनातीं ! अस्तु, मैंने निश्चय किया कि जो कागज नियमानुसार मिलेगा, उसी के उपयोग से संतोष किया जाएगा, चाहे कोई भी पुस्तक अप्रकाशित पड़ी रहे। ईश्वर की कृपा से मैं इस बात को अन्त तक निभा ले गया। दूसरी बात मैंने अपने सामने यह रखी कि पूर्व प्रकाशित किसी भी पुस्तक का मूल्य न बढ़ाया जाए। उन्हें, उन पर जो मूल्य छपा है, उसी के हिसाब से बेचा जाए। खेद है कि इस समय अनेक अच्छे-अच्छे प्रकाशकों और 'साहित्यिक' संस्थाओं ने अपने प्रकाशनों का दाम बढ़ा रखा था, और कुछ तो अपनी पुस्तकों के नये संस्करणों का दाम बढ़ा कर लेखकों को रायल्टी पहले के मूल्य के हिसाब से देते थे। युद्ध का संकट आया और वह हमारी परीक्षा ले गया।

ग्रन्थमाला सम्बन्धी विचार-धारा—मेरी इस समय की मानसिक स्थिति का कुछ आभास ओमप्रकाश को (वृन्दावन) भेजे हुए एक पत्र के आगे दिये अंश से मिलता है; यह २६ सितम्बर १६४२ को लिखा गया था।

'मेरे जीवन के बावनवें वर्ष का बारहवाँ महीना जा रहा है। मैंने हिसाब लगाया था कि ४५ वे वर्ष में वानप्रस्थ हो, और ५५वें वर्ष में संन्यास। पर घटना-चक्र कुछ और ही रहा। मकान, घर की सम्पत्ति और रुपये-पैसों पर मेरा अधिकार नहीं सा ही रहा है। अब तो उसे छोड़ना ही चाहिए। यह माया-मोह कब तक ! ग्रन्थमाला तो देश की धरोहर है। इसे जितनी जल्दी तुम संभालो, मैं संभलवाने को तैयार हूँ। परिस्थिति अनिश्चित है। हमें अपना कर्तव्य कर ही डालना चाहिए। तुम्हारी जीजी (माता) को इस बात का अफसोस न करना चाहिए कि मैंने उनका कुछ रुपया ग्रन्थमाला में लगा दिया। मैं तो घर फूँक तमाशा देखने वाला हूँ। अगर मेरे अधिकार में होता तो न-जाने

कितना रुपया और ठिकाने लगा देता। मैंने अनेक मित्रों से ले-लेकर इसमें रुपया लगाया है। तुम्हारे रुपये को तो कुछ अंश में मैंने अपना ही समझा था।'

मेरी 'अन्तिम' पुस्तक ; 'भावी नागरिकों से'—मैं बीमार तो प्रायः होता रहा हूँ, और कई बार जब बीमार पड़ा हूँ तो बहुत कष्ट भी पाया है। पर अकसर आशावादी ही रहा हूँ। मैं प्रायः सोच लेता था कि बीमारी चाहे जितनी हो, और वह चाहे जितने दिन चले, आखिर में मैं अच्छा हो जाऊँगा। पर मई १९४३ में बीमार हुआ तो मनोदशा कुछ दूसरी हो गयी। मुझे आशंका हुई कि अब शरीर बहुत समय तक न चलेगा। इस विचार से मुझे अपने साहित्य-कार्य को समेटने की इच्छा हुई। मैंने चाहा कि अपने विशाल भारतीय परिवार से जो बातें कहनी हैं, कह डालूँ; विरासत के रूप में, अपनी विचार-सम्पत्ति को लेख-बद्ध कर दूँ। इस विचारों के फलस्वरूप उस बीमारी में मैंने जल्दी-से-जल्दी अपनी 'भावी नागरिकों से' पुस्तक लिख डाली। उस समय मैंने उसे ही अपनी 'अन्तिम' कृति माना था।

पीछे तबियत ठीक होने पर 'सार्वभौम साम्राज्य' पुस्तक पूरी करने का निश्चय किया। अब साम्राज्य शब्द बहुत ही अरुचिकर प्रतीत होता था, इसलिए पुस्तक का नाम बदल कर अन्त में 'विश्वसंघ की ओर' रखा गया। इस रचना में मुझे पंडित सुन्दरलाल जी का बहुमूल्य सहयोग प्राप्त करने का सौभाग्य रहा। इस प्रकार समय-समय पर आप से मिलने और विविध विषयों पर विचार-विनिमय होने का प्रसंग आया। पंडित जी भाषा को सरल रखने का विशेष विचार रखते हैं। इस पुस्तक में आपने इस दृष्टि से भी काम किया।

इस समय मेरे हाथ में एक पुस्तक और थी—'सभ्यता और संस्कृति।' मैंने इसे भी पूरा करना चाहा पर कुछ हिस्सा लिखने पर मैं इन प्रश्नों में उलझ गया कि वास्तव में संस्कृति क्या है, उसका और सभ्यता का क्या सम्बन्ध है, दोनों में कहाँ तक समानता और कहाँ तक अन्तर

है। आखिर, इस पुस्तक का काम स्थगित ही कर दिया गया। पीछे इसकी जगह 'मानव विकास' लिखने का विचार किया। अन्त में पुस्तक का नाम रहा 'मनुष्य जाति की प्रगति'। यह सन् १९४६ में जाकर प्रकाशित हुई।

ओमप्रकाश के विचार—ओमप्रकाश ने मेरे सम्बन्ध में एक पत्र श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था, उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"सन् १९४४ में द्वितीय महायुद्ध अपनी पूर्ण भीषणता पर था। सेना के लिए आफिसर और सिपाही भारी संख्या में लिये जा रहे थे। यह भी प्रतीत होने लगा था कि लड़ाई का निर्णय मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में होगा। मैं इसी समय बी० ए० पास करके चुका था। भविष्य में क्या करूँगा, इसका निश्चय नहीं था। आफिसर बनने की चाह थी। एमर्जेन्सी कमीशन प्राप्त करने के लिए दो इन्टरवियू पाकर अन्तिम निर्णय के लिए देहरादून पहुँचा। वहाँ सिलेक्शन बोर्ड द्वारा चुन भी लिया गया। देहरादून से लोटने के पश्चात् भी इस बात को मैंने पिता जी से गुप्त ही रखा और जिस दिन जाना था, उसी दिन मैंने पिताजी को यह सूचना दी कि मैं युद्ध में आफिसर बनने के लिए ट्रेनिङ्ग प्राप्त करने जारहा हूँ। पिताजी ने मुझसे एक ही प्रश्न किया—'क्या तुम यह कार्य उचित समझते हो? क्या यह देश के प्रति विद्रोहात्मक नहीं है? मेरा भी स्पष्ट उत्तर था—'मैं तो अंगरेजी सेना में भाड़ेका सिपाही बनूँगा और मेरे लिए एकमात्र आकर्षण भावी उन्नति है।' यह सुनकर पिताजी ने केवल इतना कहा 'मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि तुम युद्ध में मारे जाओगे। मुझे दुःख भी नहीं होगा, क्योंकि मैं सिद्धान्तहीन व्यक्ति के जीवन को जीवन ही नहीं मानता। तुम्हारी मृत्यु तो आज हो चुकी। मुझे दुःख केवल इस बात का है कि जो व्यक्ति बाल्यावस्था में यह गीत गाता था—

हम सूखे चने चबाएँगे,
काँटों पर दौड़े जाएँगे,
पर शीश न कभी झुकाएँगे,

जिसके संस्कार देशभक्ति के डाले गये थे, जो उसी वातावरण में पला था, वही आज अपने को साम्राज्यवाद और शोषक शक्तियों के हाथ बेच रहा है। समय आने पर सम्भव है, तुम अपने भाइयों पर गोली चलवाने में भी न चूको!' फिर भरे हुए कंठ से उन्होंने कहा—'तुम्हारे भाई की मृत्यु से जो दुःख मुझे नहीं हुआ, वह तुम्हारे सेना में भर्ती होने से हो रहा है। यह तुम्हारी ही मृत्यु नहीं, बल्कि आंशिक रूप से मेरी भी मृत्यु है।' कह सुनने के बाद मैं देहरादून न जा सका।"

ओमप्रकाश ने बी० ए० पास किया तो आगे और कोई खास कार्य न होने से वह 'कानून' का अध्ययन करने लगा। वह प्रथम वर्ष की परीक्षा में एक साल अनुत्तीर्ण रहा, इस प्रकार उसे दो साल का कोर्स पूरा करने में तीन साल लगे। वह १६४६ में एल-एल० बी० हुआ। ८ मई १६४७ को उसका विवाह हो गया और १२ जुलाई १६४८ को उसकी बहिन का भी। दोनों के विवाह बहुत-कुछ उसी ढङ्ग से हुए, जैसे उनकी माता चाहती थी; कोई विशेष सुधार अमल में नहीं आया। हाँ, विवाह में तथा उसके बाद रिश्तेदारों का व्यवहार अच्छा रहा।

श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव—प्रयाग में रहकर जिन इने-गिने सज्जनों से मेरा नया परिचय हुआ उनमें एक श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव एम० ए० हैं। आप पहले 'भारत' के सहकारी सम्पादक थे, पीछे इसके सम्पादक हो गये। आप का खास विषय राजनीति होने से आप मेरे बहुत काम के थे ही, साथ ही आपमें सौजन्य और स्नेह-भावना होने से मैंने आप से बहुत लाभ उठाया। पहले 'मनुष्य जाति की प्रगति' के प्रसंग में आप से समय-समय पर विचार-विनिमय किया। सन् १६४६ में मैंने श्री मेहरचन्द लक्ष्मणदास के लिए 'शासन विज्ञान' लिखी, उसमें आप का अच्छा सहयोग मिला। दूसरे कार्यों में व्यस्त रहते हुए तथा

अस्वस्थ होते हुए भी, आप मेरे लिए समय निकालते रहे। मेरे अनुरोध करने पर आपने 'मानव संस्कृति' लिखने का भार लेना भी स्वीकार कर लिया था, पर वह काम आप से नहीं बन पाया। अस्तु, आप के व्यवहार में बराबर स्निग्धता बनी रही।

श्री रामनारायण मिश्र—इसी सिलसिले में प्रयाग के एक और सज्जन का उल्लेख करना आवश्यक है। ये हैं श्री रामनारायण मिश्र, सम्पादक 'भूगोल'। आपने 'भूगोल' मासिक पत्र तथा इस विषय के दूसरे साहित्य को लिखने और छपाने में भरसक त्याग किया है, और खास बात यह कि आप वह त्याग एक दो बार या कुछ समय करके नहीं रह गये, वरन् उसकी भावना जन्म-भर निभाई है। अच्छी अच्छी पैसे वाली संस्थाएँ भी ऐसे काम के लिए अपना साहस खो बैठी हैं, पर धन्य है, आप को! कई वर्ष तक आप इस घाटे के काम के लिए अपनी नपी-तुली वेतन में से भी काफी हिस्सा प्रदान करते रहे हैं। आप की इस लगन से कुछ सज्जनों ने आप को 'भूगोल' नाम ही दे दिया। आप से मिलने पर मुझे बहुत आनन्द होता था। पीछे आप का काम काफी बढ़ गया, मैंने आप से उसका स्तर ऊँचा बनाये रखने का निवेदन किया है।

आर्थिक प्रहार; कठिन परीक्षा—सांसारिक जीवन में मनुष्य के लिए सम्पत्ति का कितना महत्व है! आदमी अपनी वर्तमान आवश्यकताओं पर नियंत्रण करके आगे के लिए कुछ बचा कर रखता है। ऐसी जमा-पूँजी का यदि अकस्मात अपहरण हो जाए तो आदमी को कितना धक्का लगता है! ग्रन्थमाला की स्थिति प्रायः हमेशा ही ऐसी रही कि जो रुपया आया, उससे कुछ पिछले बिल चुकाए, घर का काम चलाया, और जो थोड़ा बहुत बाकी बचा तो उससे आगे के काम की व्यवस्था की। निदान, जमा-पूँजी कभी भी कुछ महीनों के लिए विशेष नहीं रही। नवम्बर १९४७ से पहले मामूली हिसाब डाकखाने के सेविंग बैंक में रहता था। अब बिल्टियाँ भेजने की सुविधा की दृष्टि से दारागंज

के ही एक बैंक में खाता खोल दिया और उसमें सोलह सौ रुपये से अधिक जमा हो गये। ये रुपये पुस्तकों की बिक्री से आये थे, जिनमें से कुछ तो उधार लेकर भेजी थीं। संयोग की बात, उसके एक सप्ताह बाद यह बैंक फेल हो गया।

मेरे जैसे साधारण स्थिति के आदमी के लिए यह चोट कितनी भारी थी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। मैंने यथा-सम्भव किसी से इसका जिक्र न किया, जिसका जो लेना-देना था उससे इस घटना के आधार पर कोई सहूलियत नहीं चाही। ओमप्रकाश को इसका पता कई माह पीछे यहाँ आने पर ही लगा, घर के दूसरे आदमियों को तो इसके भी बहुत समय बाद। परमात्मा की कृपा से मेरे मन में कोई अशान्ति नहीं रहीं, मैं सब काम पहले की तरह करता रहा। मुझे एक भजन की ये पंक्तियाँ बार-बार याद आती रहीं—

इस दुनिया का ऐसा लेखा। जैसा रात को सपना देखा।
सपने में जो दौलत पायी। आँख खुली तो हाथ न आयी॥

अस्वस्थता और साहित्य-कार्य—मेरी दमे की बीमारी और शरीर की कमजोरी बढ़ती देख कर मेरे मित्र और रिश्तेदार आदि बार-बार मुझे विश्राम करने के लिए कहने लगे। मैं सोचता कि ये लोग इतनी कमजोरी क्यों दिखाते है। मेरे लिए इनके आदेश मानने का अर्थ होगा, साहित्य-कार्य समाप्त कर देना। फिर, जीवन में रस ही क्या रहेगा! जहाँ तक सम्भव हो, जीवन को निरस नहीं होने देना चाहिए। इसलिए पुरानी पुस्तकों के संशोधन के अतिरिक्त, समय समय पर नयी पुस्तकें भी लिखी गयीं—व्यवसाय का आदर्श, भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन, और हमारी आदिम जातियाँ।

'हमारी आदिम जातियाँ'; श्री अखिल विनय का सहयोग—मेरे मन में यह विचार आया कि इस उपेक्षित वर्ग के सम्बन्ध में एक अच्छी पुस्तक तैयार होनी चाहिए। बस, मैंने इसे लिखने का निश्चय

किया, पर अपनी बीमारी तथा अन्य कार्यों के कारण बहुत समय तक मैं इसमें विशेष प्रगति न कर सका। पीछे श्री अखिल विनय ने इसे करना स्वीकार किया, पर कई बाधाओं के कारण उनके काम की गति बहुत मन्द रही। यह देखकर नवम्बर १६४६ में मैं उनके पास पिलानी चला गया। इसमें स्वास्थ्य-सुधार की भी दृष्टि थी। समुचित व्यवस्था तथा जल-वायु-परिवर्तन से मैं वहाँ काफी स्वस्थ रहा। तीन माह में पुस्तक का बहुत-कुछ काम कर चुकने पर मैंने और अखिल जी ने आदिम जातियों के जीवन और रहन-सहन का कुछ प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने के लिए एक माह राजस्थान और मध्यप्रदेश के कुछ स्थानों की यात्रा की। हम कोटरा भामट (उदयपुर) में होने वाले आदिवासी सम्मेलन में सम्मिलित हुए। कई स्थानों के स्कूल और आश्रम देखे। हमने मंडला में हो रहे आदिवासी कार्यकर्ता सम्मेलन में भाग लिया और विविध प्रान्तों के कार्यकर्ताओं से सम्पर्क स्थापित किया। मार्च में प्रयाग आकर मैंने इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रति का संशोधन किया। पीछे इसके छपाने की व्यवस्था की गयी।

मेरे जीवन में नये अध्याय का आभास; ओमप्रकाश का कार्य प्रारम्भ—सन् १६५० तक कई बातों का रूप स्थिर हो चला। मेरी बीमारी चली जा रही थी, और मुझे अब ग्रन्थमाला के खासकर कार्यालय सम्बन्धी कार्य से मुक्ति पाने की जरूरत हो रही थी। ओमप्रकाश ने वकालत की परीक्षा पास की, पर वकालत करने की ओर उसको विशेष रुचि या सुविधा न हुई। उसने दूसरे कामों का विचार किया। अन्त में वह श्री घनश्यामदास बिड़ला से मिला और जियाजीराव काटन मिल, गवालियर, में काम करने लगा। पर इससे परिवार के आदमी तीन जगह बँट गये। प्रश्न यह था कि स्थायी व्यवस्था क्या हो; ग्रन्थमाला का आगे क्या रूप रहे। आखिर, ओमप्रकाश गवालियर मिल का काम छोड़कर प्रयाग आ गया और यहाँ ग्रन्थमाला का काम देखने लगा। धीरे-धीरे उसने स्वयं भी पुस्तकें लिखना, लिखाना

आरम्भ कर दिया। उसकी दृष्टि पाठ्य-पुस्तकों तथा सहायक पुस्तकों की ओर रही जिनके लिए क्षेत्र बना-बनाया रहता है, अथवा प्रचार से सहज ही बढ़ाया जा सकता है। उसका कार्य व्यवसायात्मक रहा। अस्तु, मेरे जीवन में अब एक अध्याय समाप्त होकर नये अध्याय का श्रीगणेश होता प्रतीत हुआ।

मेरा 'कार्यालय'—यहाँ ग्रन्थमाला के पिछले कार्यालय की कुछ झलक दे देना ठीक होगा। मैं सन् १९४० से दुवे-निवास—दुबे जी के मकान का यही नाम था—की दूसरी मंजिल के एक ही कमरे में रहा हूँ। ग्रन्थमाला का स्टाक भी यहीं था। कई वर्ष तक तो ओमप्रकाश भी मेरे पास इसी कमरे में रहा है। यहाँ बैठने के लिए बिछौने पर एक मामूली सफेद चद्दर बिछी रही है—जो बहुधा पुरानी धोती के टुकड़े की होती थी। सामने चौकी पर एक टूटा-सा बक्स, दवात, कलम कागज और किताबें रहती थी। फाउन्टेनपेन नहीं था, और लिखने के कागज अनेक बार, काम में लगे हुए अर्थात् केवल एक तरफ कोरे (दूसरी तरफ़ लिखे या छपे हुए) और छोटे-बड़े होते थे। इसी साधन-सामग्री से मैं अपना धन्धा करता रहता था। ग्यारह वर्ष की अवधि में प्रयाग के तथा बाहर के अनेक सज्जन इस कमरे में ही, मेरे पास आये हैं, कुछ रिश्तेदारों का भी कभी-कभी यहाँ आना हुआ है। कितने ही मेरी इस सादगी का मजाक उड़ाते थे। कई-एक का सुझाव था कि कुर्सी मेज रहनी चाहिए। पर मुझे अपनी व्यवस्था में परिवर्तन करने की बात नहीं जची। हाँ, मैं अपने कार्यालय का यथेष्ट मान रखता था। मेरा यह आग्रह रहता था कि वहाँ आने वाले ठीक ढंग से बैठें, कोई फालतू गपशप न करें, किसी को सिगरेट-बीड़ी पीनी हो तो कमरे से बाहर जाकर पीए।

दुबे परिवार का व्यवहार—दुबे जी कई पुरानी रूढ़ियों को मानने वाले, एक कर्मकांडी थे। उनके आचार-विचार मुझसे बहुत भिन्न थे। वे बारहों महीने गंगा स्नान करते थे, इसे तो मैं भी अच्छा समझता था, यद्यपि यह मुझसे नहीं होता था। पर वे जो घंटों पूजा-

पाठ करते थे, छुआछूत और मुहूर्त तथा शकुन आदि बहुत मानते थे, ऐसी बातों की मैं अकसर आलोचना किया करता था। पूजा-पाठ की बात आने पर मैं कह देता था कि आपकी पूजा कुछ परिमित समय की ही होती है, मैं तो दिन भर पूजा करता हूँ, मेरे काम में ही मेरी पूजा है। अस्तु, दुबे जी का और मेरा दृष्टिकोण कई बातों में जुदा-जुदा था। पर हम दोनों की खूब निभी, और उनका प्रेम-व्यवहार बराबर बना रहा।

मेरा सम्बन्ध दुबे जी के परिवार भर से—उनके लड़के-लड़कियों और नौकरों से, तथा प्रयाग आने वाले उनके भतीजों आदि से भी—रहा। सब मुझे घर का एक बड़ा आदमी समझते और बहुत मानते थे और मेरा आवश्यक कार्य करते रहते थे। मैं सबकी कृपा स्नेह के लिए कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थमाला या स्वाभिमान ?—दुबे निवास की विविध मधुर स्मृतियों के उल्लेख की आवश्यकता नहीं; और यदि कभी कुछ अरुचिकर बातें भी हुईं तो मैं अपने दिमाग में उनका भार क्यों रखूँ! एक बात कहने के लिए विवश हूँ। सम्भवतः सन् १६२३ में दुबे जी मेरे पास वृन्दावन आये थे। उस समय उन्होंने हमारे यहाँ भोजन करना उचित नहीं समझा था; यहाँ तक कि पक्की रसोई (पूरी, मिठाई) आदि भी स्वीकार नहीं की थी। ऐसे व्यक्ति के यहाँ भोजन करने से मेरे स्वाभिमान पर आघात होता था। तथापि मैंने दुबे जो के यहाँ भोजन किया और लम्बे समय तक किया। कई बार वृन्दावन की घटना आँखों के आगे घूम जाती, दुबे जी की छुआछूत की भावना से मन में क्षोभ पैदा होता। पर लाचारी थी; कड़वी घूँट पीकर रह जाता। मैं अपने भोजन की व्यवस्था अलग करने की स्थिति में न था, उससे ग्रन्थमाला को क्षति पहुँचती, उसकी अपेक्षा मैंने अपनी स्वाभिमान भावना को दबा कर उनके यहाँ ही जीमना ठीक समझा।

अस्तु, मुझे बारबार यह अनुभव हुआ है कि यह जाति-भेद और

कच्ची-पक्की रसोई का विचार हिन्दुओं में दो-राष्ट्र की ही नहीं, कई राष्ट्र की घातक कल्पना पैदा करता है। इसका जितनी जल्दी अन्त हो, अच्छा है। अगली पीढ़ी में यह विचार चलने वाला नहीं, तथापि बड़ी उम्र के कुछ आदमी अपने पुराने संस्कारों को छोड़ने में असमर्थता दिखा रहे हैं।

विशेष वक्तव्य—अब चिर-परिचित दुबे निवास छोड़ दिया गया है; वहाँ रहने के समय अन्तिम दिनों में यह मालूम होने लगा था कि मेरी विचारधारा में कुछ मोड़ आ रहा है, मैं आर्थिक और राजनैतिक ही नहीं, सभी विषयों पर कुछ नये दृष्टिकोण से विचार करने लग गया हूँ। इस पर आगे प्रकाश डाला जाएगा। पहले कुछ चर्चा इस बात की कर ली जाए कि पिछले दिनों मेरे सामने साहित्य का क्या आदर्श रहा है।

———

उन्नीसवाँ अध्याय

साहित्यिक आदर्श

मानव विचारों का मूल्य सफलताओं से नहीं नापा जाता, आकांक्षाओं से नापा जाता है। सर्वोत्तम सफलताओं से भी अधिक श्रेष्ठ वे आकांक्षाएँ होती हैं, जो सफल न हो सकीं और आकांक्षाएँ ही रह गयीं।

—विनोबा

हो रहा है जो यहाँ सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा!
किन्तु होना चाहिए कब क्या कहाँ
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ॥

—गुप्त जी

(१)

लेखक का आदर्श

लेखक अपने कार्य में विजय प्राप्त करने का इच्छुक होता है। पर विजय का अर्थ क्या है, उसका आदर्श क्या होना चाहिए?

+ + +

मेरी रचना पढ़ कर अनेक पाठक कुछ देर खिलखिला उठते हैं, या मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं। क्षण भर के लिए चहुँओर मेरी वाहवाह हो जाती है पीछे कुछ प्रभाव नहीं रहता, कागज रद्दी की टोकरी में जाता है और बात हवा में उड़ जाती है, किसी के हृदय में नहीं बैठती, किसी

मस्तिष्क की शक्ति नहीं बढ़ाती। क्या मैं विजयी हूँ? मेरी बात में कोई तथ्य नहीं, सार नहीं, उद्देश्य नहीं। फिर मैं विजयी कैसे?

\+ \+ \+

मेरा जीवन, रहनसहन, स्वभाव आदि कैसा ही हो, पर मैं बात बनाने में औरों को उपदेश देने में खूब कुशल हूँ। मेरी भाषा कुछ कम चटपटी नहीं। मेरी लेखनी का जादू अमुक सम्पादक भली भाँति जानते हैं। वे बारबर चिट्ठियों द्वारा ही नहीं, अनेक बार तो तार द्वारा मेरे लेख के लिए आग्रह करते हैं। पिछली बार मेरा लेख कई पत्रों में उद्धृत हुआ, मेरे नाम के साथ सम्पादक जी का पत्र भी चमक उठा—इससे क्या, मैंने लेख के भाव दूसरों से चुराये हों या ये मेरे अपने हों, मेरी बात ऊपरले मन से हो या हृदय के अन्तर्तल से। मैं विजयी लेखक तो हूँ न? हाँ, शायद दुनिया के कुछ लोगों की दृष्टि में हूंगा, पर अफसोस! स्वयं अपनी दृष्टि में नहीं।

\+ \+ \+

लिखना मेरा रोजगार है। चाहे कुत्ते बिल्लियों की कहानी लिखा लो, चाहे किसी की खुशामद और चाहे किसी की निन्दा। जो कोई अच्छा मेहनताना देता है, उसी का काम कर देता हूँ। इस में बुराई क्या, आज एक पक्ष का समर्थन कर दिया और कल उसी का खंडन! मुझे मतलब अपने टकों से है; जिससे मुझे रोटी-कपड़ा मिलता है उसका काम मुझे नमकहलाल (स्वामी-भक्त) नौकर की तरह करना ही चाहिए। ऐसा करने से हम दोनों का भला होता है, स्वामी प्रसन्न रहता है और मेरी भी खूब मजे से गुजरती है। क्या मैं विजयी लेखक नहीं? शायद विजयी रोजगारी तो हूँ, पर विजयी लेखक नहीं मालूम पड़ता।

\+ \+ \+

मैं अपने प्रतिपक्षियों को खूब सुनाता हूँ और वह भी ऐसे शब्दों में कि किसी की पकड़ में न आऊँ। जब किसी धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक वाद-विवाद के विषय पर कुछ लिखना

होता है और बड़े आदमियों—महन्तों, पंचों, या राज्याधिकारियों को कुछ कहना होता है तो एक-आध बात उनकी आलोचना की कह कर दो-एक बातें अपनी सफाई की, और कुछ इधर-उधर की कह देता हूं। इस प्रकार सर्वसाधारण पाठकों में मैं 'सब पहलुओं पर विचार करने वाला' और सत्ताधिकारियों में 'कुल मिला कर निर्दोष और निष्पक्ष' बना रहा हूँ। क्या मैं विजयी लेखक नहीं? इस में सन्देह नहीं कि अनेक भोले-भाले आदमी मेरी बड़े आदमियों में गणना करते हैं पर मेरा स्वाभिमानी मन मुझे विजयी लेखक का पद देने से इनकार ही करता रहता है।

तो फिर विजयी लेखक बनने के लिए क्या करना चाहिए? हम जो बात लिखें, शुद्ध निष्कपट हृदय में लिखें, खूब विचार कर और भली भाँति मनन करके लिखें। उसके लिए हमारी प्रशंसा ही होगी, इस आशा से न लिखें; सम्भव है, हमें उसके बदले में कुछ अपमान और दूसरे कष्ट ही मिलें। हमारी रचना को पढ़ने वाले भले ही थोड़े व्यक्ति हो, पर जो कोई भी पढ़े उसे अपनी जीवन-यात्रा या विकास के लिए कुछ तत्व की चीज मिलनी चाहिए। कम से कम हमें तो यह सन्तोष हो कि हम उसे लिखने में अपनी आत्मा का हवन नहीं कर रहे हैं, वरन् आदर्श जीवन की ओर प्रगति कर रहे हैं। हम अपनी शक्ति का यथेष्ट सदुपयोग करें; कोई प्रलोभन, मान-प्रतिष्ठा आदि हमारे स्वाभिमान को न खरीद सकें; हम विविध विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए भी अपने कर्तव्य-पथ पर बढ़ते रहें। तभी हमें अपने विजयी लेखक होने का कुछ सन्तोष हो सकेगा। यही हमारा लेखक जीवन का आदर्श होना चाहिए।

(२)

साहित्य के लिए बलिदान

हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा है, यह ठीक हैं। पर क्या हिन्दी में वैसा और उतना साहित्य है, जो छत्तीस करोड़ जन-संख्या वाले देश की राष्ट्र-भाषा में होंना चाहिए? युरोप अमरीका के चार चार पांच-पाच

करोड़ आदमियों की भाषा को राष्ट्र-भाषा मानने वाले देश विश्व-साहित्य की कितनी पूर्ति कर रहे हैं, प्रत्येक देश अपने निवासियों को, एवं अन्य देशों को साहित्य के रूप में कितना विचार-संग्रह दे रहा है! यह ठीक है कि संस्कृत साहित्य के अनुवाद के रूप में हिन्दी भी संसार को बहुत सा धार्मिक तथा आध्यात्मिक साहित्य दे सकती है। पर क्या हमें उसी से संतुष्ट रहना उचित है? हमें सोचना चाहिए कि आधुनिक आवश्यकताओं की दृष्टि से हमारे हिन्दी साहित्य की क्या दशा है? हमारे साहित्य में ऐसे ग्रन्थ कौन-कौन से और कितने हैं, जो अंगरेज, जर्मन, फ्रांसीसी और अमरीकी आदि विद्वानों को हमारी राष्ट्र-भाषा सीखने के लिए आकर्षित या वाध्य करें?

अस्तु, यदि इसे बहुत दूर की ही बात समझा जाय, तो हम तनिक यह तो सोचें कि हमारी राष्ट्र-भाषा के साहित्य से हमारे राष्ट्र की आवश्यकताएँ कहाँ तक पूरी हो रही हैं! राजनीति, अर्थशास्त्र, कृषि, उद्योग, विज्ञान, व्यवसाय आदि विषयों के साहित्य की कितनी कमी है। और, घाटा उठाकर, अपना सर्वस्व गंवाकर भी उसके निर्माण और प्रचार की कितनी जरूरत है!

कहाँ हैं, वे पुरुष और देवियाँ, जो शुद्ध सेवा-भावना से साहित्य-व्रती हों, जो मर कर नहीं, जीते जी बलिदान हों, पर गोली खाने वाले, दीवारों में चुने जाने वाले, या खाल खिंचवाये जाने वालों की तरह प्रसिद्धि भी न पावें; जिन्हें संसार न जानें, पास उजले कपड़े और काफी पैसे न होने से जो अपनी बिरादरी या समाज में समुचित मान न पावें, जो खरी टीका-टिप्पणी करने के कारण प्रायः सरकारी अधिकारियों की आँखों में भी न सुहावें; परन्तु जो इन बातों की परवाह न करके अपनी धुन के मस्त और दीवाने हों। वे ही लोग कुछ कर गुजरेंगे। ये ही भावी भव्य विशाल भारत के राष्ट्रीय भवन में नींव का काम देंगे। संसार की स्थूल दृष्टि में महत्व हो या न हो, बलिदान होने वालों की आत्मा का संतोष ही उनका समुचित प्रतिफल है। धन्य है, वह राज्य

या देश, जिसमें ऐसी आत्माएँ यथेष्ट संख्या में हों। भारत माता पूछती है कि उसकी सन्तान में से कितनों की गणना इनमें हो सकती है।

(३)

हिन्दी भाषा का स्वरूप

साहित्य सम्बन्धी एक विचारणीय प्रश्न यह है कि राष्ट्र-भाषा का रूप क्या हो। इस प्रसंग में हिन्दी-उर्दू की बात आती है। असल में ये एक ही भाषा के दो रूप हैं, क्योंकि दोनों के क्रिया-पद, विभक्ति, प्रत्यय, अव्यय और सर्वनाम एक ही हैं। पहले इन भाषाओं में सिर्फ लिखावट या लिपि का भेद था। पीछे लेखकों ने इन्हें विद्वानों की भाषा बनाने की धुन में खूब कठिन कर दिया; उर्दू वालों ने फारसी अर्बी के शब्द, मुहावरे, और व्याकरण के नियमों का प्रयोग बढ़ाया, हिन्दी वालों ने सस्कृत को अधिकाधिक अपनाया। इस तरह कठिन हिन्दी और कठिन उर्दू दो जुदा-जुदा भाषाएँ हो चलीं।

इस प्रवृत्ति से होने वाली हानि का विचार करके कुछ सज्जनों ने आसान हिन्दी और आसान उर्दू के मिले हुए स्वरूप हिन्दुस्तानी का प्रचार बढ़ाना चाहा। म० गांधी ने इस दिशा में खूब कोशिश की। कांग्रेस ने इसमें योग दिया। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा और हिन्दुस्तानी कलचर सोसायटी आदि संस्थाओं के कार्यक्रम में इस मिली-जुली भाषा के प्रचार का कार्य मुख्य रहा। अगस्त १९४७ से भारत का विभाजन होकर पाकिस्तान का अलग राज्य बन जाने पर इसकी बड़ी प्रतिक्रिया हुई। भारतीय संघ में यह कहा जाने लगा कि अब हिन्दू-मुसलिम एकता का स्वप्न भंग हो गया, अब हिन्दुस्तानी का प्रचार करने की जरूरत नहीं, अब तो यहाँ शुद्ध हिन्दी का राज्य होना चाहिए।

भारतीय संघ की राजभाषा हिन्दी मान लिये जाने पर हिन्दी में अंगरेजी की बहुत सी पुस्तकों का अनुवाद करने तथा कितनी ही नयी पुस्तकों की रचना करने के लिए पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता हुई। हिन्दी में कोष बनाने का काम भी करना था। इस प्रसंग में कुछ

लोगों ने भारतीय संस्कृति की भी बात उठायी और हिन्दी को संस्कृत-निष्ठ बनाने पर जोर दिया। इसके परिणाम-स्वरूप 'रघुवीरी' हिन्दी सामने आयी। डा० रघुवीर एक बहुत विद्वान और भाषा-विशेषज्ञ हैं। पर उन्होंने जो कोष बनवाये उनमें प्रत्येक शब्द ऐसा ही रखा जो ठेठ संस्कृत से निकला हो। दूसरे सब शब्दों का, वे चाहे जितने सरल, सुबोध और प्रचलित थे, निकाल देने का निश्चय रहा। उदाहरण के लिए उन्होंने सिमेंट को 'वज्रचूर्ण' लिखा। अब वकील को 'अधिवक्ता', सीस-पेन्सिल को 'अंकिनी' स्याही-सोख को 'मसिचूस' और फाउन्टेन-पेन को 'निर्झरणी' कहा गया। इससे काम करने वालों की होने वाली कठिनाई का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सरकारी कार्यालयों में काम करने वाले आदमियों को बात-बात में कोष की सहायता लेना आवश्यक हो गया। उनकी जरा-सी भूल का नतीजा यह हुआ कि सैकड़ों हजारों आदमियों के लिए संकट और परेशानी उपस्थित हो गयी। आदमी कहने लगे कि यह कैसी हिन्दी आयी, इससे तो अंगरेजी ही अच्छी थी। 'साइकल' को सब जानते हैं, 'साइकल-मेन' को साइकल वाला कह सकते हैं, पर 'द्विचक्रयान' और 'द्विचक्रयान-आरोही' किस-किस को समझावें!

यह ठीक है कि हमें नये शब्दों के निर्माण में संस्कृत से आवश्यक सहायता लेनी चाहिए, जिससे हिन्दी भाषा भारत की विविध प्रान्तीय भाषाओं के निकट रहे। पर हमें व्यर्थ ऐसा प्रयत्न न करना चाहिए कि पारिभाषिक शब्दों की आड़ में भाषा का स्वरूप ऐसा संस्कृतमय बना-दें कि साधारण रोजमर्रा का काम चलना ही कठिन हो जाए। यदि हम ऐसा करेंगे तो अपनी भाषा के सेवक या सच्चे प्रेमी न होकर उसके शत्रु ही साबित होंगे। साम्प्रदायिक कट्टरता की तरह भाषा सम्बन्धी कट्टरता भी बहुत घातक होती है। अगर हम हिन्दी से अन्य भाषाओं के किताब, रोटी, कपड़ा, लालटेन, स्कूल, स्टेशन आदि उन शब्दों को निकाल बाहर करें, जो पिछली सदियों में हमने धीरे-धीरे पचाये और

अपनाये हैं तो हिन्दी में क्या रह जाएगा! आवश्यकतानुसार दूसरी भाषाओं से भी शब्द लेना और उन्हें अपनाते रहना ही किसी भाषा के जीवन का लक्षण है। किसी जाति की तरह किसी भाषा का भी चिरकाल तक पूरे तौर पर शुद्ध बने रहने का अभियान असत्य, भ्रममूलक और विनाशकारी है। भाषा में नदी के जल की तरह प्रवाह बना रहना चाहिए; पानी एक जगह रुके रहने से सड़ जाता है और अन्त में सूख जाता है। अस्तु, भाषा-हितैषियों को चाहिए कि शब्दों की छाँट या निर्माण में उदार-हृदयता और विकास नीति से काम लें। अन्यदेशीय, प्रान्तीय, और देशज शब्दों का तिरस्कार न कर उनका समुचित स्वागत करना चाहिए।

(४)

कुछ सुन्दर स्वप्न

जब से हिन्दी भाषा का काम हाथ में लिया, मैंने अंगरेजी का व्यवहार क्रमशः कम कर दिया। डायरी और हिसाब हिन्दी में लिखा, अधिकांश पत्र-व्यवहार और भाषण हिन्दी में किये, पुस्तकें और पत्र भी अधिकतर हिन्दी के ही पढ़े। अंगरेजी से उसी दशा में काम लिया, जब कि उसे अनिवार्य समझा, खासकर ग्रन्थ रचना में सहायता के लिए। यह होते हुए भी मालूम होता है कि अंगरेजी ने मेरे भीतरी मन पर काफी अधिकार जमा रखा है, अचेतन अवस्था में वह अपना प्रभाव दिखा कर रहती है। सपनों में बहुधा मेरे भाषण अंगरेजी में हुए हैं। कुछ भाषणों के भाव बहुत सुन्दर रहे।

[१] प्रातःकाल २ अप्रेल १६४४ (मूल अंगरेजी में)—

अगर तुम किसी नदी के ऊपर (मुहाने) की तरफ चलो तो तुम एक ऐसे स्थान पर पहुँचोगे जहाँ वह नदी वास्तव में नदी नहीं है। इस प्रकार यदि तुम किसी मनुष्य के भूत काल का अध्ययन करो तो तुम एक ऐसे समय में आजाओगे जब वह मनुष्य वैसे व्यक्तित्व वाला नहीं था। गांधी और तिलक (अपने जीवन के एक समय में) गांधी और तिलक नहीं थे।

हरेक आदमी को अपने जीवन में धीरे-धीरे आदमी (विशेष व्यक्तित्व वाला) बनना है।

[२] प्रातःकाल, ८ नवम्बर १९४५ (मूल अंगरेजी में)—

हे प्रभु! तेरे 'सेवक' भूमि पर कैसे अत्याचार कर रहे हैं! कैसे जुल्म! कब तक? कब तक?

मैं अपने आपको मानवता के लिए एक विनम्र सेवक के रूप में उपस्थित करता हूँ। सेवा; यह मेरा ध्रुव नक्षत्र है। मेरी और कोई आकांक्षा नहीं है। मुझे स्वीकार कर।

मित्रो! भाइयो! बुजुर्गों! हंसो मत। प्रार्थना करो कि मैं अपने मिशन (उद्देश्य) में सफलता प्राप्त करूँ।

[३] १७ दिसम्बर १९४६—

[म० गांधी आदि द्वारा अस्थायी सरकार में शामिल होने से इनकार करने पर वायसराय ने दल के नेता के रूप में मुझे बुलाया। मेरा वायसराय और श्री जिन्ना के सामने भाषण]

मैं अरब या मक्के-मदीने से नहीं आया। मैं इंगलैंड का नहीं हूँ। मैं यहाँ की मिट्टी से पैदा हुआ हूं। मुझे इस जमीन में और यहाँ के समुद्र में मिलना है। मैं देशहित का विचार नहीं छोड़ सकता! तुम्हें एक लाख रुपया मिलता है। यहाँ के आदमियों को राशन के अनुसार अन्न, और कंट्रोल का कपड़ा मिलता है। वे नंगे रहते हैं....।

[४] १७ फरवरी १९४७ (मूल अंगरेजी में)—

अपने जीवन का, हरेक दिन, हरेक घंटा और अगर सम्भव हो तो हरेक मिनट मानवता के हित अर्पण करो। ज्ञान की श्रृङ्खला में बहुत सी खाली जगहें (भरने के लिए) हैं!

बीसवाँ अध्याय

सर्वोदय की ओर

ओ सुकोमल लेखनी मेरी, रुको मत, गति बढ़ाओ।
आज तक जो कुछ लिखा, वह भूमिका थी !
गीत तो मेरे अभी प्रारम्भ होंगे,
और अब ही से पुजारिन थक चली तुम !
आज है पगली कहाँ विश्राम का क्षण !
आज तो कर्तव्य का तुम को निमंत्रण।
आज मेरी लेखिनी, तुम रुको मत, गति ही बढ़ाओ।

—भारत व्यास

नया साहित्य लिखना है, समय की छाप हो जिस पर।
सरल अभिव्यक्ति हो जिसकी कि जो हो सत्य-शिव-सुन्दर॥

—ओंकारसिंह 'निर्भय'

मेरी विचारधारा का विकास—सन् १९५१ में मेरी विचारधारा में कुछ परिवर्तन मालूम होने लगा; वैसे वह क्रमशः विकसित ही थी। 'श्रद्धांजलि' और 'विश्ववेदना' से स्पष्ट है कि मेरी मनोवृति मानवीय भावनाओं की ओर पहले से थी। अपनी रचनाओं में मैं यथा-सम्भव नैतिक दृष्टिकोण रखता आया था, और क्योंकि मेरी अधिकांश पुस्तकें किसी खास पाठ्यक्रम के अनुसार न होकर स्वतंत्र रूप-रेखा वाली होती थीं, मुझे उनमें नैतिक भावनाएँ प्रकट करने में कोई बाधा न थी। मेरी 'भारतीय अर्थशास्त्र', 'अपराध-चिकित्सा' 'साम्राज्य और उनका पतन',

'धन की उत्पत्ति', 'विश्व संघ की ओर' आदि पुस्तकों में प्रसगानुसार नैतिक विषयों पर जोर दिया गया था। 'भावी नागरिकों से', और 'व्यवसाय का आदर्श' तो खास इसी दृष्टिकोण से लिखी गयी थीं। समय-समय पर मैंने साहित्य-सम्बन्धी आदर्श के लेख भी लिखे थे।

महात्मा गांधी का प्रभाव—मैं सन् १९२० से ही म० गांधी का साहित्य देख रहा था। अपने द्वारा सम्पादित 'प्रेम' में मैं उसी वर्ष से उनके लेखों को उद्धृत कर रहा था तथा अहिन्सा आदि पर अपने विचार प्रकट कर रहा था। देश में राजनैतिक आन्दोलन था, मैं भी उसके अनुरूप विचारों का चिन्तन और मनन करता था। परन्तु म० गांधी की विचारधारा केवल राजनैतिक न थी, वह आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक—सभी कुछ थी, वह समग्र जीवन सम्बन्धी थी। इस बात को देश में बहुत थोड़े लोगों ने समझा, और निश्चय ही मैं उन थोड़े से सौभाग्यशाली सज्जनों में न था। अस्तु, सन् १९५० तक मेरी विचार-धारा क्रमशः विकसित होते हुए भी मैं म० गांधी के द्वारा घोषित विचारों को कुछ अंश में ही ग्रहण कर पाया था। मेरे विचारों ने उस दिशा में कोई खास महत्वपूर्ण प्रगति नहीं की थी।

जाजू जी की प्रेरणा—इसके अगले वर्ष मेरे विचारों में होने वाले परिवर्तन ने कुछ स्थूल या प्रत्यक्ष रूप धारण किया। उन्हें निश्चित दिशा प्रदान करने का श्रेय खासकर मान्यवर श्रीकृष्णदास जाजू को है। बहुत वर्ष पहले आपने मेरे अर्थशास्त्र-साहित्य को देख कर मुझे लिखा था कि वर्धा आकर गांधी विचारधारा का अध्ययन करो। मैं उस समय आप के सुझाव को अमल में न ला सका, पर बात मन में रह आयी। आखिर, अक्तूबर १९५० में मैंने आपकी लिखी 'अखिल भारत चरखा संघ का इतिहास' पुस्तक पढ़ी। उसमें एक जगह गांधी जी का यह वाक्य था—'जो अर्थशास्त्र व्यक्ति की या राष्ट्र की नैतिक भलाई पर आघात करता है, वह अनैतिक अतः पापमय है।' इसे पढ़ना था

कि मेरे मन में हलचल मच गयी; सोचने लगा कि यद्यपि मैंने अपने अर्थशास्त्र में जगह-जगह पाठकों को नैतिक दृष्टिकोण रखने की बात कही है, उसकी आत्मा तो पूँजीवादी या साम्राज्यवादी ही है। यह ठीक नहीं है। हमें दूसरा दृष्टिकोण रखना चाहिए। इस प्रकार जो काम जाज् जी की प्रत्यक्ष सूचना से नहीं हो पाया था, अब उनकी पुस्तक के एक वाक्य से होने का अवसर आ गया। मैं पूँजीवाद के सम्बन्ध में कुछ गहरा विचार करने, इसकी बुराइयों का उपाय सोचने की ओर झुका।

पूंजीवाद और उसका विरोध—यहाँ इस विषय की कुछ व्यापक चर्चा करना उपयोगी होगा। मैंने कालिज में अर्थशास्त्र पढ़ा (सन् १६१३ और १६१४), और साहित्य-कार्य आरम्भ किया (सन् १६१५), उस समय उन्नत कहे जाने वाले इंगलैंड और अमरीका आदि में पूंजीवाद का ही बोलवाला था और यह बहुत आकर्षक था। इस अर्थ व्यवस्था में उत्पति का केन्द्रीकरण होता है, मिलों और कारखानों द्वारा अधिक से अधिक माल पैदा किया जाता है, जिन पर एक-एक व्यक्ति या कुछ खास-खास व्यक्तियों का अधिकार होता है। मजदूरों को निर्धारित मजदूरी दी जाती है, शेष सब आमदनी मालिकों की होती है। वे अपने नफे के लिए यंत्रों का अधिक से अधिक उपयोग करके बेहद माल पैदा करते हैं। उस माल को खपाने के लिए पूंजीवादी उपनिवेशवाद और साम्राज्य-वाद का आश्रय लेते हैं, इसका परिणाम विनाशकारी युद्ध होते हैं।

पहला महायुद्ध (१६१४) मेरे जमाने में हुआ, उसके कई वर्ष बाद तक होने वाले कष्टों का मैंने अनुभव किया। तो भी मेरे दिमाग में यह बात नहीं आयी कि यह महायुद्ध पूंजीवादी पद्धति की ही विनाशकारी देन है। इस प्रकार मैंने सन् १६२१-२२ में भारतीय अर्थ-शास्त्र लिखा तो उसमें जैसा कुछ मेरे विद्यार्थी-जीवन में पढ़ने में आया था, वैसा ही विचार पाठकों के सामने रखा गया; जहाँ-तहाँ कुछ नैतिक

विचार सूचित किये, पर उसकी मूल भावना नहीं बदली; वह पूंजीवादी ही बनी रही।

मेरे देखते-देखते दूसरा महायुद्ध (१९३९-४५) भी हुआ। इस बीच में पूंजीवाद के विरोध में कई विचारधाराएँ फैलीं, जिनमें मार्क्सवाद मुख्य था। यह समाजवाद के नाम से प्रचारित हुआ। समाजवाद के समय-समय पर कई भेद हुए, उनमें से साम्यवाद का स्वतंत्र ही स्थान हो गया। समाजवाद और साम्यवाद से जिन लोगों के स्वार्थों को धक्का पहुँचने की आशंका थी, उनके द्वारा इनका विरोध होना स्वाभाविक था। इस प्रकार प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के बाद इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिस्टवाद, और जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में नाजीवाद आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, जिनका उद्देश्य मध्यश्रेणी की सहायता से निरंकुश शासन और अधिनायकवाद के रूप में पूंजीवाद की रक्षा करना था। इन आन्दोलनों की गूंज दूर दूर तक फैली। पर इनका जीवन थोड़े समय का ही रहा। अपनी चकाचौंध दिखाकर, दूसरे यूरोपीय महायुद्ध में इनका प्रायः अन्त हो गया।

इस प्रकार अन्त में दो मोर्चे मुख्य रह गये, (१) समाजवादी (जिसे लोकतंत्री भी कह दिया जाता है), और (२) साम्यवादी।

समाजवादी और साम्यवादी शक्तियाँ—समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन सरकार द्वारा होता है, वही अर्थात् समाज उत्पन्न माल तथा उससे होने वाले मुनाफे की अधिकारी होती है। काम करने योग्य प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना होता है, और उसे उसके काम के अनुसार वेतन दिया जाता है। लोगों के भोजन-वस्त्र, मकान, शिक्षा, चिकित्सा आदि की व्यवस्था सरकार द्वारा की जाती है। उत्पादन यंत्रों से, और केन्द्रीकरण पद्धति से होता है। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतंत्रता और विकास बहुत सीमित रूप में ही हो पाता है।

साम्यवादी व्यवस्था में श्रमियों को पारिश्रमिक उनकी आवश्यकतानुसार देने का नियम है। जबकि समाजवाद अपने कार्यक्रम में वैधानिक

उपायों का अवलम्बन करता है, साम्यवाद को अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए हिन्सा आदि किसी भी साधन के उपयोग से परहेज नहीं होता। अकसर इसके व्यवहार में हिन्सा, तोड़-फोड़ और मारकाट को बेरोक स्थान मिला है। इसमें पूंजी और जमीन के केन्द्रीकृत नियंत्रण पर और बड़े पैमाने की खेती और उद्योग-धंधों पर तो विश्वास किया ही जाता है।

समाजवादी शक्तियों का अग्रणी अमरीका है, इसके साथी या अनुचर फ्रांस, इंगलैंड, हालैंड आदि हैं। दूसरे पक्ष का प्रमुख प्रतिनिधि रूस है। इसका अपने पास के राष्ट्रों पर अच्छा प्रभाव है। पिछले दिनों इसी से प्रेरणा पाकर चीन ने अपने आप को महाशक्ति बना लिया है।

आपसी तनातनी—रूस और अमरीका दोनों अपना-अपना क्षेत्र बढ़ाने का हर प्रकार का प्रयत्न कर रहे हैं। मेल-मिलाप तथा संधि-समझौते की बात करते हुए भी प्रत्येक दूसरे पर सन्देह करता है और अपनी शक्ति सुदृढ़ करने के लिए संहारक अस्त्रों का अधिक से अधिक निर्माण कर रहा है। रूस का कथन है कि जब तक अमरीका की साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक नीति जारी रहेगी, हम इन हथियारों को बनाने (तथा बढ़ाने) के लिए विवश हैं। उधर अमरीका कहता है कि जब तक साम्यवाद संसार पर हावी होने के लिए कमर कसे हुए है, लोकतंत्री जगत को अपनी स्थिति ठीक रखने की चिन्ता करना स्वाभाविक ही है।

वर्तमान स्थिति; नयी अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकता—इस प्रकार दोनों शक्तियों की आपसी तनातनी से संसार पर युद्ध-संकट की भयंकर घटा छायी हुई है। वाणी और लेखनी से मनुष्य अपने आपको देवता दिखाता है, पर व्यवहार में छल, कपट, हिन्सा, स्वार्थ आदि का परिचय देकर राक्षस सिद्ध हो रहा है। शोषण सब का लक्ष्य बना हुआ है। व्यक्ति-व्यक्ति का शोषण करता है, समूह-समूह का, नगर ग्रामों या कस्बों का, और सभ्य देश पिछड़े देशों का। इसके लिए नये-नये उपायों

का आविष्कार किया जाता है। सारी बुद्धि और योग्यता का उपयोग इसी में किया जा रहा है। प्रत्येक को अपने जीवन, सुविधा, विलासिता और ऐश्वर्य की चिन्ता है; दूसरों को चाहे जो कष्ट हों, वे जीवें या मरें, अथवा जीते रह कर हर घड़ी मृत्यु की मुसीबत का अनुभव करें—इसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं समझी जाती। ऐसी स्थिति ने कुछ विचारकों को बेचैन कर दिया। रस्किन, टाल्सटाय आदि ने नयी अर्थव्यवस्था की आवश्यकता का अनुभव किया। पीछे गांधी ने इस विचारधारा को विकसित कर इसे निश्चित और व्यावहारिक रूप दिया। उन्होंने बतलाया कि जब तक आदमी केवल अपना भला चाहेगा, या उन थोड़े से व्यक्तियों का ही हित सोचेगा, जिन्हें वह अपना मानता है, तक तक वास्तव में उसका उद्धार नहीं होगा। सब के भले में ही हमारा भी भला है; दूसरों का अहित करके, हमारा अपने कल्याण की आशा करना व्यर्थ और मूर्खता-पूर्ण है।

सर्वोदय अर्थशास्त्र की तैयारी—ये बातें सीधी-सादी हैं। इनके समझने में किसी को कुछ कठिनाई नहीं होनी चाहिए। परन्ते प्रायः आदमी इन पर गम्भीरता से सोचता ही नहीं। मैंने ही इतने वर्ष इन पर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। सन् १९५० के अन्त में जाकर मैं इस विचारधारा की ओर आकर्षित हुआ। पहले मैंने एक लेख 'यह कैसा अर्थशास्त्र!' लिखा, फिर 'नैतिक अर्थशास्त्र की आवश्यकता' आदि लेख लिखे। ये लेख दर्जनों पत्रों में प्रकाशित कराये और बहुत से अर्थशास्त्र-लेखकों तथा शिक्षाधिकारियों के पास निजी तौर से भी भेजे गये। मैं अस्वस्थ रहता था, चाहता था कि नये दृष्टिकोण वाले अर्थशास्त्र की रचना के काम को कोई अन्य सज्जन कर दें। जब उसकी आशा न रही तो आखिर मैंने स्वयं ही यह कार्य करने का निश्चय किया।

जनवरी फरवरी १९५१ में मैं पिलानी रहा। वहाँ इस विषय का साहित्य देखा। श्री नरहरि परीख की 'मानव अर्थशास्त्र' (गुजराती) पुस्तक पढ़ी। गांधी साहित्य को अध्ययन करने का भरसक प्रयत्न किया गया। सर्वश्री

विनोबा, किशोरलाल मश्रूवाला, जो० का० कुमारप्पा, भारतन कुमारप्पा, धीरेन्द्र मजूमदार, रामकृष्ण शर्मा, श्रीमन्नारायण अग्रवाल, रामनाथ सुमन आदि लेखकों की जो पुस्तकें सुलभ हुईं, उन्हें तथा 'सर्वोदय' और 'हरिजन सेवक' आदि की पुरानी फाइलों को देखा गया, और आवश्यक नोट लिए गये। इस प्रकार नया अर्थशास्त्र लिखने की तैयारी की गयी, जिसे पीछे 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' नाम दिया गया।

प्राकृतिक चिकित्सा का अनुभव—इस रचना में सहायता लेने के लिए मैं मार्च में श्री जवाहरलाल जैन के पास जयपुर गया। यहाँ पहुँचते ही मेरा दमे का रोग उभर आया। मैं पहले आयुर्वेदिक चिकित्सा पसन्द करता था, पीछे एलोपेथी भी कराने लगा, पर मेरा विशेष झुकाव होम्योपेथी की ओर होगया। जयपुर में मैंने वैद्यक की औषधि ली, पर पीछे प्राकृतिक चिकित्सा कराने का निश्चय किया। इसके वास्ते मैं गांधीनगर (जो शहर से मिला हुआ ही है) के प्राकृतिक चिकित्सालय में आ गया। इस संस्था को आर्थिक सहायता खासकर सेठ सोहनलाल जी दूगड़ दे रहे थे, इसकी व्यवस्था की देख-भाल श्री रामेश्वर अग्रवाल (मंत्री, राजस्थान खादी-संघ) करते थे। यहाँ प्रधान चिकित्सक श्री किशनलाल अग्रवाल थे, जा अपनी बीमारी में हजारों रुपया बर्बाद कर चुकने पर इस पद्धति की ओर आकर्षित हुए थे, और अपने अनुभव से दूसरों को लाभ पहुँचाने में लगे थे। इन्हें अपने काम में सेवा-भावी श्री शम्भूनाथ का सहयोग प्राप्त था, जो पहले आयुर्वेद-पद्धति में दीक्षित हुए थे, पर पीछे इस ओर आ गये। इन सभी सज्जनों का मेरे प्रति बहुत स्नेह-भाव रहा। प्राकृतिक चिकित्सा से मेरी कई साल की बीमारी दो सप्ताह में जाती रही। मैं रात को जागने, खांसने और थूकने के झंझट से मुक्त हो गया। तथापि मैं चिकित्सालय में ही ठहरा रहा। सर्वोदय सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए मैं अप्रेल में हैद्राबाद गया, वहाँ से लौटने पर कुछ कमजोरी आ गयी। इस पर मित्रों के आग्रह से मैंने दूध-कल्प किया। इससे शरीर

में बल आया, वजन भी बढ़ा। पर दूध-कल्प के बाद जब भोजन आरंभ किया तो कुछ गलती होने से मुझे फिर बीमारी शुरू हो गयी और वह कुछ कम-ज्यादा चलती ही रही।

मैंने अपनी लड़की शान्ति को यहाँ इलाज के लिए बुलाया था, वह यहाँ लगभग तीन माह रही। सादा खान-पान, कुछ मामूली शारीरिक क्रियाएँ, चक्की चलाना, सूत कातना, घूमना-फिरना—इन बातों से उसे काफी लाभ हुआ। पर आजकल के शहरी जीवन में ये बातें निभती नहीं, और बहुतों को बिना मिर्च मसाले और छौंक के साग और मोटे आटे की रोटी ही नहीं भाती। शान्ति का छोटा भाई प्रमोद यहाँ आया था, पर इस 'सादगी' से वह जल्दी ही घबरा गया।

मैंने यहाँ में बहुत से आदमियों, औरतों और बच्चों का इलाज होते देखा। कितने ही रोगी दूसरा इलाज कराते-कराते उकता गये थे, कुछ के रोगों को सरकारी अस्पताल वालों ने प्रायः असाध्य कह दिया था। वास्तव में मानव यंत्र के सुधार के लिए प्राकृतिक साधन—हवा, मिट्टी, पानी, धूप और आकाश उससे कहीं अधिक उपयोगी हैं, जितना प्रायः समझा जाता है। मनुष्य का हित इसी में है कि वह सरल सादा जीवन बिताए और दवाइयों के चक्कर में ज्यादा न पड़े। दवाइयों का जो 'व्यापार' चल रहा है, यह अनैतिक तथा हानिकारक ही है। प्राकृतिक चिकित्सा को भी व्यापार या रोजगार नहीं बनाया जाना चाहिए; इस काम को हाथ में लेने वालों को व्यावहारिक अनुभव के साथ शास्त्रीय ज्ञान यथेष्ट होना चाहिए और लोक-सेवा की भावना रखनी चाहिए।

श्री जवाहरलाल जैन—मैं जयपुर (गांधीनगर) लगभग नौ माह रहा। इसमें उद्देश्य श्री जवाहरलाल जैन से सर्वोदय अर्थशास्त्र की रचना में सहायता लेना था। जैन जी ने मेरे साथ विचार-विनिमय करने के अतिरिक्त स्वयं लिखने का भी कार्य किया। हम दोनों सर्वोदय सम्मेलन, हैदराबाद, भी गये। इस यात्रा में सर्वश्री श्रीकृष्णदास जाजू

और किशोरलाल मश्रूवाला आदि कई महानुभावों से इस पुस्तक के विषय के सम्बन्ध में विचार किया। नवम्बर में हमारे लिखने का काम बहुत कुछ पूरा हो जाने पर सामग्री देखी गयी तो दोनों की कृतियाँ अलग-अलग रखना ही ठीक जँचा। मेरी पुस्तक हुई 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' और जैन जी की हुई 'सर्वोदय अर्थव्यवस्था'। अस्तु, मुझे इस प्रसंग में भाई जैन जी के सर्वोदयी विचार जानने और उनसे लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिला।

श्री सुरेश राम भाई—मेरा 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' मान्यवर पंडित सुन्दरलाल जी की कृपा से 'नया हिन्द' प्रेस में, श्री सुरेश राम भाई की देख-रेख में छपने की व्यवस्था हुई। भाई सुरेश जी बहुत समय से सर्वोदय विचारधारा के चिन्तक और प्रचारक रहे हैं। आपसे मुझे इस पुस्तक के कई स्थलों पर विचारपूर्ण परामर्श मिला। इसके बाद तो आपसे बहुत घनिष्ठता हो गयी, और हम समय-समय पर एक-दूसरे से मिलने और विचार-विनिमय करने लगे।

भारतीय ग्रन्थमाला में सर्वोदय विचारधारा—सर्वोदय साहित्य के पठन-पाठन से मेरे मन में यह बात बैठ गयी कि हमारे साहित्य-कार्य में सर्वोदय विचार-धारा को यथेष्ट स्थान मिलना चाहिए, यहाँ तक कि प्रत्येक विषय का विवेचन सर्वोदय-दृष्टिकोण से हो। क्रमशः इस दिशा में प्रगति हुई। 'नागरिक शिक्षा,' 'हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ' के नये संस्करण में एक-एक अध्याय इस विषय का दिया गया। 'भारतीय शासन' और 'मनुष्य जाति की प्रगति' में तो इस विषय का इतना विचार हुआ कि नये विचार की अलग-अलग पुस्तकें भी बन गयीं।

सर्वोदय ग्रन्थमाला—'सर्वोदय अर्थशास्त्र' और 'सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था' पुस्तकों की रचना एक-साथ होने से, तथा आगे भी इस प्रकार का साहित्य प्रकाशित करने की इच्छा के कारण सर्वोदय ग्रन्थमाला की स्थापना सहज ही हो गयी, और पहली ही पुस्तक से उसका सूत्रपात हो

गया। पीछे इसमें 'हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो?', 'सर्वोदय राज—क्यों और कैसे!' 'समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय' के अतिरिक्त 'मानव संस्कृति' भी मिल गयी। बाद में 'मेरा जीवन—सर्वोदय की ओर' और 'सर्वोदय—दैनिक व्यवहार में' भी तैयार हो गयीं। यहाँ 'मानव संस्कृति' के विषय में कुछ विशेष कहना है।

'मानव संस्कृति'—'सभ्यता और संस्कृति' पुस्तक को लिखने की कल्पना सन् १९४३ में की गयी थी। पर काम रुकता रहा। उस सिल-सिले में 'मनुष्य जाति की प्रगति' पुस्तक की रचना होने के बाद इसका नाम 'मानव संस्कृति' रखने का विचार किया गया। सोचा था कि यह रचना श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव के द्वारा तैयार हो जाए। पर उन्हें यथेष्ट अवकाश न होने पर, सन् १९५२ में मुझे ही इसे हाथ में लेना पड़ा। इसके लिए वनस्थली विद्यापीठ के प्रोफेसर श्री रामेश्वर गुप्ता एम० ए० ने कुछ सामग्री प्रदान की। पंडित सुन्दरलाल जी ने इसका उपसंहार-लेख दिया और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने इसकी भूमिका लिखी। इन महानुभावों के कुछ विचार मैं इस पुस्तक में पाठकों के सामने ला सका, इससे मुझे बहुत आनन्द हुआ।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से विचार-विनिमय—चतुर्वेदी जी म० गाँधी, रवीन्द्र और सी० एफ० एंड्रूज आदि के सम्पर्क में काफी रहे, और अपने 'प्रोपेगेंडा, के लिए खूब प्रसिद्ध हुए। 'विशाल भारत' के सम्पादक, 'प्रवासी' साहित्य के लेखक, और रेखा-चित्रों के निर्माता के रूप में आपकी ख्याति अखिल भारतीय है। यह जानते हुए भी सन् १९५० से पूर्व मुझे आपके निकट सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिला। वृन्दावन, आगरा आदि में समय-समय पर आपसे भेंट तो हुई पर कुछ जाप्ते की सी ही। आप से विशेष मिलना मई १९५० में आगरा में हुआ, जब आप वहाँ इलाज के लिए अस्पताल में ठहरे हुए थे। पीछे आपके निमंत्रण पर जून में मैं और सत्येन्द्र जी टीकमगढ़ पहुँचे। खूब आनन्द-विनोद रहा। यद्यपि मैं आपके 'चाय-चक्रम' में शामिल नहीं

हुआ, मैंने आपके स्नेह-पूर्ण स्वागत-सत्कार से अच्छा लाभ उठाया। कई साहित्यिक और सांस्कृतिक विषयों पर आपसे विचार-विनिमय हुआ।

मैंने देखा कि निर्धन चतुर्वेदी जी ने साहित्यिक सामग्री का कितना परिग्रह कर रखा है, और ये 'संस्कृति' आदि विषयों की पुस्तकों को लिखने के लिए कितने योग्य हैं। परन्तु आपका लेखन-कारोबार इतना फैला हुआ था कि मैंने आपसे उसे ही समेटने के लिए निवेदन किया; किसी नयी रचना को हाथ में लेने का सुझाव नहीं दिया।

मेरा जीवन-चरित्र—प्रयाग आने (१९४०) से पहले मैंने अपने जीवन-चरित्र की उस समय तक सामग्री संकलित कर ली थी; वह खासकर ग्रन्थमाला के जीवन-चरित्र के रूप में थी। उसे संशोधित करने तथा पूरा करने और छपाने की बात कई बार सामने आयी, पर टलती रही। अब इस कार्य को कर डालने का निश्चय किया गया। साधारण कार्यों से जो अवकाश मिल सका, वह इसमें लगाया गया। इसमें साहित्यिक ही दृष्टिकोण, घटनाएँ और विचार प्रमुख होने से इसे साहित्यिक जीवन कहा गया।

भावी रचनाएँ—आगे किन-किन विषयों की रचनाएँ की जाएंगी, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। हाँ; यह स्पष्ट है कि इस समय मेरे मन में सर्वोदय साहित्य की भावना ही प्रधान है। चाहता हूँ, इस विषय पर खूब लिखा जाए, बालकों के लिए, बड़ों के लिए, थोड़े पढ़ों के लिए और विद्वानों के लिए, विद्यार्थियों के लिए, तथा शिक्षकों के लिए, पुरुषों के लिए तथा स्त्रियों के लिए। घर, बाजार, कार्यालय, स्कूल, शिक्षा और चिकित्सा, व्यापार और उद्योग, कृषि और पशुपालन ——सभी स्थानों में और सभी कामों में हमारी दृष्टि सर्वोदय की हो। राजनीति हो, अर्थशास्त्र हो या विज्ञान हो——सभी विषयों की रचनाओं में हमारा दृष्टिकोण सर्वोदय का हो। केवल दिमाग पर बोझ डालने वाली, मानसिक व्यायाम कराने वाली कोई रचना तैयार न की जाए। प्रत्येक रचना का मूल्य आंकने के लिए हमारी मुख्य कसौट सर्वोदय हो।

इस प्रकार मेरी इच्छा या आकांक्षा यही है कि प्रत्येक भावी रचना सर्वोदय भावना का संदेश देने वाली और उसका प्रचार करने वाली हो।

विशेष वक्तव्य—जब से मेरे मन में यह विचार-धारा आयी है, मुझे शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टि से विलक्षण सुख मिला है। सन् १९४३ में 'अन्तिम' पुस्तक ('भावी नागरिकों से') लिखने के बाद मैं मृत्यु की प्रतीक्षा करने लग गया था, अब तो जिन्दगी की कीमत का हिसाब लगाता हूँ। सोचता हूँ, जो शक्ति और समय है, उसका अधिक से अधिक उपयोग किया जाए। रात को बारबार जागने, खांसने और थूकने आदि से बहुत कष्ट होता है, पर सबेरे उठकर काम पर लग जाने से उस कष्ट को भूल जाता हूँ। हर रोज नया जन्म, नया उत्साह और नयी प्रेरणा है।

इक्कीसवाँ अध्याय

सर्वोदय यात्रा

इस छोटी सी जिन्दगी में हम कसौटी पर हैं। इस संसार में जो कुछ थोड़े दिन हमें रहना है, उनमें सबकी सेवा तथा सब का प्रेम हासिल करने की कोशिश करनी चाहिए। सबसे प्रेम करो और सबका प्रेम हासिल करो—यही सर्वोदय समाज का सन्देश है।

—विनोबा

सर्वोदय सम्मेलन—हैदराबाद, सेवापुरी और चांडिल— सन् १६५० से सर्वोदय साहित्य में लगने के बाद ऐसी इच्छा रही कि सर्वोदय विचारधारा वाले सज्जनों से मिलने और विचार-विनिमय करने के जो अवसर सुलभ हों, उनसे यथा-सम्भव लाभ उठाया जाए। इसी लिए सन् १६५१ में सर्वोदय सम्मेलन में भाग लेने के लिए हैदराबाद गया। यह यात्रा श्री जवाहरलाल जैन के साथ हुई। इसका जिक्र पहले किया जा चुका है। इस समय पहली बार सेवा-मूर्ति श्री विनोबा के दर्शन हुए और उनके हृदयग्राही भाषण सुनने को मिले; दूसरे भी कई सज्जनों के विचार जानने का अवसर आया। सर्वोदय सम्बन्धी कुछ साहित्य पहले देखा जा चुका था, अब उन बातों पर अधिक ध्यान गया और वे अधिक समझ में आने लगीं।

अगले वर्ष सर्वोदय सम्मेलन सेवापुरी (बनारस) में हुआ। मैं उसमें सम्मिलित हुआ। इस अवसर पर अन्यान्य सज्जनों में श्री धीरेन भाई, श्रीकृष्णदास जाजू, वी० स० खोड़े, बैजनाथ महोदय, काका

कालेलकर, सिद्धराज ढड्ढा आदि महानुभावों से भी भेंट हुई। दारागंज से जाने वाले सज्जनों में से श्री माधोप्रसाद शर्मा की इस सम्मेलन में अच्छी रुचि रही। ये सन् १९५३ के चांडिल (विहार) में होने वाले सम्मेलन में भी सम्मिलित हुए। यहाँ पूर्वोक्त सज्जनों के अतिरिक्त बाबा राघवदास, और कर्ण भाई आदि से भी मिलने का प्रसंग आया।

मध्य-भारत में; सर्वोदय संस्थाओं की कार्य-पद्धति—अप्रेल १९५३ में मैं आगर (उज्जैन) के सर्वोदय शिविर में भाग लेने के लिए गया। यह शिविर वहाँ के ग्राम-सेवक विद्यालय में हुआ था। इस संस्था के आचार्य श्री काशीनाथ त्रिवेदी थे। आप पहले मध्य-भारत के मंत्री-पद पर रह चुके थे और म० गाँधी के साबरमति आश्रम में रह कर वहाँ के ऊँचे संस्कार लिये हुए थे। ग्राम-सेवक-विद्यालय का उद्देश्य ग्राम-कार्यकर्ताओं का केन्द्र-पंचायत में मंत्री का काम करने की योग्यता प्राप्त करने में, सहायक होना था। राज्य-सरकार ने इसे पाँच वर्ष तक सहायता देकर चलाने का निश्चय किया था, पर अधिकारियों की इस दिशा में विशेष रुचि या निष्टा न होने से इसका प्रयोग साल भर में बन्द कर दिया गया। यहाँ इसका कुछ परिचय इस लिए दिया जाता है कि सर्वोदयी संस्थाओं की कार्यपद्धति की झाँकी मिल जाए।

स्वावलम्बी जीवन—यहाँ विद्यार्थियों को सामूहिक जीवन बिताना और स्वावलम्बी होना जरूरी था। उन्होंने भोजन की व्यवस्था स्वयं ही की। इससे उनमें छोटा-बड़ा प्रत्येक कार्य करने की भावना जागृत हुई। सब ने शरीर-श्रम का गौरव और प्रतिष्ठा का अनुभव किया। झाड़ू लगाना, लीपना-पोतना, पानी भरना, बर्तन मांजना, सूत कातना, कपड़ा बुनना, ईंधन लाना और लकड़ी चीरना, गेहूँ, और चावल साफ करना, रसोई बनाना, कपड़े धोना, रोगियों की सेवा करना आदि उनके लिए भार-रूप न होकर रोज मर्रा के स्वाभाविक कार्य हो गये। चाय और बीड़ी-सिगरेट के व्यसनों से, तथा जाति-भेद और छुआछूत आदि की

दुर्भावना से उन्हें मुक्ति मिली। इस प्रकार उनके शारीरिक, और नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ।

सर्वोदय की भावना—सर्वोदय का आशय और व्यावहारिक रूप यह है कि जो व्यक्ति (या वर्ग) समाज में सबसे अन्तिम सिरे पर है, जो सबसे हीन है उसकी सुध ली जाए उसका हित सोचा जाए। इस विद्यालय के विद्यार्थियों ने आगर में दौलीबाई नामक एक अनाथ हरिजन बुढ़िया का झोपड़ा दुरुस्त करने का बीड़ा उठाया। शिक्षकों तथा नागरिकों का भी इसमें सहयोग मिला। सामग्री जुटाने के लिए आवश्यक चन्दा एकत्र किया गया; शरीर-श्रम तो अपना था ही। यह कार्य आगर में अपने ढंग का पहला ही था।

इसी प्रकार का एक कार्य गौरी बाई नाम की सत्तर वर्ष की अनाथ चमारिन बुढ़िया का घर बनाना था। उसकी घास-फूस की मढैया ऐसी खराब हालत में थी कि पशुओं के रहने योग्य भी नहीं मानी जा सकती। आह! हमारे कितने भाई-बहिन ऐसी करुणाजनक स्थिति में रहते हैं, उनके निवास-स्थान में नीचे जमीन और ऊपर आसमान होता है। और, उसकी दीवारें निराकार होती हैं। यह समय कब आएगा जब प्रत्येक भारत-सन्तान की वर्षा और सर्दी व गर्मी से तथा जगली पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए छोटी-मोटी कुटी अवश्य होगी! सर्वोदय की भावना से इस विषय में आशा का सन्देश मिलता है।

श्रम-प्रतिष्ठा की मनोवृत्ति का निर्माण—विद्यालय के शिक्षकों के सामने यह एक बड़ी समस्या थी कि जिन विद्यार्थियों ने अपने घर या शिक्षा-शाला में झाड़ू लगाने या बर्तन मांजने का भी कार्य करने का संस्कार नहीं पाया उन्हें मल-मूत्र की सफाई आदि विविध प्रकार के श्रम करने के लिए कैसे तैयार किया जाए। इसके लिए उन्होंने अपने उदाहरण से शिक्षा दी, पर पुराने संस्कार जल्दी नहीं छूटते। अस्तु, आचार्य जी ने इसके लिए उन्हें अनुकूल वातावरण का प्रत्यक्ष अनुभव

कराया। उन्हें सेवाग्राम (वर्धा) ले जाकर वहाँ की विविध रचनात्मक संस्थाएँ दिखायी गयी। स्वराज्य-आश्रम बेड़छी की भी यात्रा की गयी। इन स्थानों में कुछ समय बिताकर विद्यालय परिवार ने पहली बार सामूहिक रूप से चक्की पीसने और पाखाना सफाई करने का काम सहज स्फूर्ति से किया। इस प्रकार इस यात्रा से जल्दी ही वह काम हो गया जो अन्य किसी प्रकार से इतने समय में होना प्रायः असम्भव ही था।

सर्वोदय शिविर—इस विद्यालय में, मई के दूसरे सप्ताह में सर्वोदय शिविर स्वावलम्बन पद्धति से चलाया गया। बाहर से आने वाले सब कार्यकर्ता भोजन बनाने, पानी भरने, सफाई करने आदि विविध कार्यों में भाग लेते थे। प्रातःकाल साढ़े चार बजे सामूहिक प्रार्थना और कुछ प्रवचन आदि के बाद विविध टोलियों को उनका कार्य बता दिया जाता था, जिसे सब उत्साहपूर्वक करते थे। सात बजे नाश्ता और ग्यारह बजे सामूहिक भोजन होता था। एक बजे से एक घंटा सामूहिक कताई हो कर दो बजे से साढ़े चार या कभी-कभी पाँच बजे तक बौद्धिक चर्चा होती थी। छः बजे सायंकाल को सामूहिक भोजन, और साढ़े सात बजे से नौ-साढ़े-नौ बजे तक प्रार्थना, पारस्परिक परिचय, मनोरंजन, कविता-पाठ आदि रहता था।

बौद्धिक चर्चा का विषय हर रोज अलग-अलग रहता था, अथवा कभी-कभी पिछले शेष की पूर्ति की जाती थी। पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर भी दिया जाता था।

शिविर में खोड़े जी ने धान (चावल) की उत्तम प्रकार की खेती का प्रयोग करके दिखाया और यह भी दिखाया कि मल-मूत्र से खाद किस प्रकार बनायी जाती है। पशु-सेवा-व्रती श्री रामगोपाल पटेल ने (जिन्होंने पशुओं की विलक्षण चिकित्सा की है और 'पशुओं की सिद्ध वनौषधि चिकित्सा' पुस्तक लिखी है) जिज्ञासु सज्जनों को अपने महत्त्वपूर्ण प्रयोगों का परिचय दिया।

सर्वोदय साहित्य का प्रचार—सर्वोदय साहित्य की यहां खासी मांग रही, इसका एक विशेष कारण यह भी था कि खोड़े जी ने अपने भाषणों में इसकी खूब चर्चा की। आप को साहित्यावलोकन का बड़ा शौक है। आप अकसर यात्रा में रहते हैं, और यात्रा करते हुए अच्छी-अच्छी पुस्तकें देखते रहते हैं। जो साहित्य आपको उपयोगी प्रतीत होता है, उसका भरसक प्रचार करने का प्रयत्न करते रहते हैं।

कस्तूर-बा ग्राम—आगर से इन्दौर होकर मैं कस्तूर-बा ग्राम गया। कस्तूर-बा गांधी स्मारक राष्ट्रीय निधि में सवा करोड़ रुपये एकत्र हुए थे। यह निधि देहात की स्त्रियों और बालकों की उन्नति, विकास तथा सेवा के लिए है। इसका वास्तविक कार्य सन् १६४५ से आरंभ हुआ है। सेवा-केन्द्रों की संख्या तीन सौ से ऊपर है और उनमें पाँच सौ से अधिक सेविकाएँ काम कर रही हैं। प्रान्तीय प्रशिक्षण विद्यालयों के अतिरिक्त केन्द्रीय संस्था कस्तूर-बा ग्राम के नाम से स्थापित की गयी है।

श्री माणिकचन्द कटारिया—यह संस्था इस समय गर्मी की छुट्टियों के कारण बन्द थी। भाई माणिकचन्द जी कटारिया ने मुझे यहां की विविध प्रवृत्तियों की जानकारी दी। मुझे यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई कि श्री कटरिया ने अपने आप को यहां के वातावरण के अनुसार बना लिया है, और प्रत्येक प्रकार के शरीर-श्रम को हर्ष-पूर्वक करते रहते हैं। अन्य कार्यों के अतिरिक्त पौधों को पानी देना और उनकी सार-संभार करना आप का स्वाभाविक कार्य है। इन दिनों आप की पत्नी यहां नहीं थीं, पर इससे आप भोजन की कोई कठिनाई अनुभव नहीं करते थे; यहाँ तक कि आप के यहाँ कई मेहमान आ गये तो आपने सबके लिए स्वयं ही भोजन तैयार किया और सब को प्रेमपूर्वक जिमाया। हमारी यूनिवर्सिटियों के कितने स्नातक (बी० ए०, एम० ए०) ऐसा ग्रामीण जीवन बिताने और शरीर-श्रम करने को तैयार होते हैं!

एक चिंतनीय बात—कस्तूर-बा ग्राम के सम्बन्ध में एक बात

सुनकर मुझे हार्दिक वेदना हुई। इसके लिए जो भूमि प्राप्त की गई है; वह एक करोड़पति सेठ के पास थी। उन्हें वह इसलिए पट्टे पर दी गयी थी कि वे लोकहित की दृष्टि रखकर इसका विकास करें। उन्होंने यह न कर इसे पैसा उत्पन्न करने का साधन बनाया और आखिर जब यह उनसे ली गयी तो उन्हें बहुत क्षोभ हुआ, और उन्होंने जहां तक उनसे बन आया इसके हरे भरे पेड़ों को कटवा डाला। इससे उनको कोई लाभ नहीं होना था, उनका हेतु यही रहा कि दूसरों को पेड़ों का लाभ न मिले। अफसोस! मनुष्य की यह प्रवृत्ति कितनी अमानवीय है! विशेष चिन्ता और दुःख की बात यह है कि ऐसी दुष्ट भावना का परिचय ऐसे आदमी दें जो देश भर में दानवीर प्रसिद्ध हों, जगह-जगह मन्दिर, विद्यालय तथा अन्य धार्मिक या सार्वजनिक संस्थाएँ निर्माण करने में भी खूब पैसा खर्च करते हों। वास्तव में ऐसे आदमी जो दान-धर्म करते हैं, वह अपने नाम, यश या ख्याति के लिए करते हैं, उनमें माननीय भावना का यथेष्ट विकास नहीं होता।

खोड़े जी—कस्तूर बा ग्राम से इन्दौर होकर मैं खोड़े जी के पास खरगोन आया; आपने मुझे मध्यभारत के कुछ स्थानों की यात्रा करायी और विविध प्रवृत्तियों का परिचय कराया। खोड़े जी मध्य-भारत के मुख्य मंत्री के पद को छोड़ कर शासन से बाहर अपनी शक्ति का उपयोग कर रहे हैं। मध्य-भारत के भावी निर्माण के लिए किस-किस स्थान पर क्या-क्या कार्य होना चाहिए, किस प्रकार आवश्यक योग्यता के कार्यकर्ता स्थान-स्थान पर जुटाये जाएँ, और इसमें आनेवाली बाधाओं का किस प्रकार सामना किया जाए ये बातें आपके मस्तिष्क में बराबर घूमा करती हैं। आप सर्वोदय भावना के चलते-फिरते प्रचारक हैं। जहाँ-कहीं आते-जाते हैं, भू-दान, संपत्तिदान और श्रम-दान ही आप की चर्चा का प्रधान विषय होता है।

वर्धा और सेवाग्राम की संस्थाएँ—मध्य-भारत की यात्रा के बाद मैं वर्धा गया, वहाँ इन दिनों सर्वोदय शिविर चल रहा था। यों

भी वर्धा एक राष्ट्र-तीर्थ है और सर्वोदयी संस्थाओं का केन्द्र है। श्रद्धेय श्री० श्रीकृष्णदास जाजू इन दिनों बाहर दौरे पर गये हुए थे, पर आपका परिवार मेरे लिए अपना ही था। आपके पुत्रों ने मुझे वहाँ की संस्थाएँ दिखाने की सब व्यवस्था कर दी। मैं सेवाग्राम, गोपुरी, राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा, कुष्टधाम दत्तपुर, चरखा संघ, गांधी जी की कुटिया, परमधाम आश्रम, मगनवाड़ी, भारत जैन महामंडल आदि के कार्यकर्ताओं से मिला और उनसे आवश्यक वार्तालाप किया। कई संस्थाएँ बन्द थीं, और कितने ही कार्यकर्ता भू-दान यज्ञ में लगे हुए थे। तथापि मेरा कार्यक्रम यथेष्ट मनोरंजक और शिक्षाप्रद रहा। आगे कुछ संस्थाओं का परिचय दिया जाता है। इस सम्बन्ध में श्री उमाशंकर शुक्ल की 'राष्ट्रतीर्थ-वर्धा और सेवाग्राम' पुस्तिका में उपयोगी जानकारी है।

सेवाग्राम-आश्रम—सेवाग्राम वर्धा से पांच मील हैं। इसका नाम पहले सेगांव था। म० गांधी के यहाँ पधारने पर यह सेवा-ग्राम हो गया। यहां विविध रचनात्मक कार्य होते रहे हैं। यहां के आश्रम के व्यवस्थापक श्री चिमनलाल भाई थे, जो महात्मा जी के पुराने साथियों में से हैं। हाल में आश्रम सर्वसेवा संघ में विलीन हो गया है। तथापि श्री विनोबा के मतानुसार यह निश्चय किया गया है कि यदि आगे इसे चलाने की बात तय हो तो यह, आश्रम के ढंग से ही चलेगा, अर्थात् ग्यारह व्रत (सत्य, अहिन्सा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शरीर-श्रम, सर्वधर्म सम भाव, और स्वदेशी), आहार-शुद्धि, नियमित जीवन, कांचन-मुक्ति आदि बातें पूर्ववत् रहेंगी। यदि कोई वानप्रस्थ अपने खर्च से रहना चाहें तो वे अपने पैसे का उपयोग, आश्रम के नियमों के अनुसार कर सकते हैं, उन्हें आश्रम के जीवन में यथाशक्ति हिस्सा लेना होगा। यदि वहाँ विद्यार्थी रखने का विचार किया जाए तो उनके लिए ऊपर खर्च के वास्ते सूतांजलि होगी। श्रमदान लिया जा सकेगा।

गांधी जी की कुटिया—गांधी जी की कुटिया बिलकुल सादी बनी है। इसमें महात्मा जी का सामान ऐसा रखा है, जैसा उनके जीवन-काल में रखा रहता था। देखने पर ऐसा मालूम होता है कि महात्मा जी आकर इस सामान का उपयोग करने वाले हैं। कुटिया की दीवारों पर 'हे राम, हे राम' और 'ओ३म्-ओ३म्' लिखा है। इसकी देख-भाल का काम हरि के सुपुर्द है, जो महात्मा जी की सेवा किया करता था।

इस कुटिया के पास ही बा की तथा महादेव भाई देसाई की कुटिया है। नजदीक ही रसोड़ा है और कुछ दूर हटकर आश्रम के पाखाने हैं। आश्रमवासी पाखानों की सफाई स्वयं ही करते हैं।

चरखा संघ—म० गांधी के कार्यों में चरखे का विशेष स्थान रहा है। उनकी प्रेरणा से चरखा-संघ की स्थापना सन् १९२५ में हुई। इसके द्वारा कार्यकर्ताओं को ट्रेनिंग दी जाती हूँ तथा कताई, बुनाई, पिंजन का और इन विषयों के शास्त्र का ज्ञान कराया जाता है। संघ इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता है कि खादी तैयार करने के लिए अच्छे और वैज्ञानिक सरंजाम बनाये जायँ। सरंजाम में सुधार और संशोधन के प्रयोग किये जाते हैं। पहले संघ का खास काम खादी तैयार करना ही था, अब वह वस्त्र-स्वावलम्बन की ओर अधिकाधिक शक्ति लगा रहा है।

ग्रामोद्योग संघ—इस संस्था की स्थापना सन् १९३४ में हुई थी। इसका उद्देश्य ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देना और उनमें आवश्यक सुधार करना, ग्रामनिवासी जनता की नैतिक और शारीरिक उन्नति का प्रयत्न करना तथा गांवों की नयी रचना और संगठन करना है। संघ की संरक्षता में कई प्रवृत्तियों के प्रयोग चल रहे हैं—जैसे धान के चावल निकालना, गुड़ बनाना, तेल निकालना, शहद की मक्खियाँ पालना, कपास ओटना, सूत या सन और रेशम की कताई और बुनाई, कालीन और कम्बल बनाना, कागज बनाना, साबुन

बनाना, मरे हुए जानवरों की लाशों का उपयोग करना, और चमड़ा तैयार करके उसकी विविध वस्तुएँ बनाना आदि। ग्राम-सेवक विद्यालय में बाहर से आने वाले शिक्षार्थियों को ट्रेनिंग दी जाती है। संस्था का मुख-पत्र 'ग्रामोद्योग पत्रिका' प्रतिमास हिन्दी और अगरेजी में प्रकाशित होती है, इसके सम्पादक श्री जो० का० कुमारप्पा हैं। स्व० मगनलाल गांधी के स्मारक ने मंगन-संग्रहालय का रूप ले लिया है, इसमें खादी और ग्रामोद्योग की चीजें रहती हैं, और उनकी उत्पादन-विधि दिखायी जाती है।

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ—साक्षरता या अक्षर-ज्ञान न तो शिक्षा का अन्तिम ध्येय ही है, और न उससे शिक्षा का प्रारम्भ ही होता है, वह तो शिक्षा का एक साधन-मात्र है। म० गांधी द्वारा प्रचारित नयी तालीम का उद्देश्य यह है कि बालक अपने शरीर, मन और आत्मा के उत्तम गुणों का विकास करें, उनकी सर्वांगीण उन्नति हो, वे स्वावलम्बी बनें, उनकी रचनात्मक कार्य करने की प्रवृत्ति और शक्ति बढ़े। इस शिक्षा की व्यवस्था हिन्दुस्तानी तालीम संघ द्वारा होती है। इसकी स्थापना सन् १९३८ में हुई थी। इसकी प्रगति में आचार्य नायकम् और श्रीमति आशादेवी नायकम् का खास भाग रहा है। इस संस्था के मुख्य विभाग ये हैं—

(१) पूर्व बुनियादी शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा।

(२) आनन्द निकेतन। यह सात दर्जों का पूरा बुनियादी स्कुल है।

(३) उत्तर-बुनियादी शिक्षा। यह कार्य मार्च १९४६ से आरम्भ किया गया है।

(४) नयी-तालीम-भवन। इसमें नयी तालीम के शिक्षक और कार्यकर्ता तैयार किये जाते हैं। इसके दो कार्य मुख्य हैं—(क) राष्ट्रीय कार्यकर्ता और कस्तूर-बा निधि की ओर से भेजी हुई बहनों का शिक्षण, और (ख) भारत सरकार के विभिन्न प्रान्तों से भेजे हुए अध्यापकों और अफसरों का बुनियादी शिक्षा सम्बन्धी आवश्यक शिक्षण।

(५) साहित्य विभाग। इसके द्वारा बुनियादी शिक्षा के साहित्य की तैयारी और प्रकाशन होता है।

संघ में शिक्षा का एक महान प्रयोग चल रहा है। शिक्षार्थी अनाज और तरकारी पैदा करते हैं, कातने से लेकर धुनने तक की सब क्रियाएँ जानते हैं और अपना कपड़ा भी बना लेते हैं।

सर्वोदय समाज, सर्व-सेवा-संघ और 'सर्वोदय'—सर्वोदय समाज में म० गांधी की विचारधारा को मानने वालों का भाईचारा कायम करने की भावना है। इसका उद्देश्य सत्य और अहिंसा पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना है जिसमें जात-पांत न हो, जिसमें किसी को शोषण करने का मौका न मिले, और जिसमें समूह और व्यक्ति दोनों को पूरा-पूरा (सर्वाङ्गीण) विकास करने की सुविधा हो। जो सज्जन इस उद्देश्य और बुनियादी सिद्धांत को मानता है और इसके अनुसार काम करने की कोशिश करता है, उसे इसकी सूचना सर्वोदय समाज, वर्धा, के मंत्री को दे देनी होती है। ऐसे समस्त 'सेवकों' का नाम व पता समाज के रजिस्टर में लिखा जाता है।

समाज के उद्देश्य को पूरा करने के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम निर्धारित हैं—(१) साम्प्रदायिक एकता (२) अस्पृश्यता-निवारण (३) जाति-भेद निराकरण (४) नशाबन्दी (५) खादी और दूसरे ग्रामोद्योग (६) गाँव-सफाई (७) नई तालीम (८) स्त्री के लिए पुरुषों के बराबरी के हक और समाज में स्त्री-पुरुष की बराबरी की प्रतिष्ठा (९) आरोग्य और स्वच्छता (१०) देश की भाषाओं का विकास (११) प्रांतीय सकीर्णता का निवारण (१२) हिन्दुस्तानी का राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रचार (१३) आर्थिक समानता (१४) खेती की तरक्की (१५) मजदूर संगठन (१६) आदिम जातियों की सेवा (१७) विद्यार्थी संगठन (१८) कुष्ठ रोगियों की सेवा (१९) संकट-निवारण और दुखियों की सेवा (२०) गो-सेवा (२१) प्राकृतिक चिकित्सा और (२२) इसी तरह के दूसरे काम।

सर्वोदय समाज का पथ-प्रदर्शन सर्व-सेवा-संघ करता है। इस संस्था का मुख-पत्र 'सर्वोदय' है। यह मासिक है। हाथ के कागज पर छपता है। वार्षिक मूल्य ८) है। इसके सम्पादक आचार्य विनोबा और दादा धर्माधिकारी हैं। इसमें सर्वोदयी विचारधारा एवं प्रवृत्तियों का विवेचन रहता है। उनकी जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों के लिए इसका अध्ययन बहुत आवश्यक है।

महिलाश्रम और बाल-मन्दिर—महिलाश्रम १९२४ से स्थापित है। इसका उद्देश्य छात्राओं में आत्म-विश्वास जागृत करना तथा समाज और देश की सेवा की योग्यता पैदा करना है। इसके लिए उन्हें देश की महिलाओं की स्थिति का परिचय कराया जाता है, किताबी पढ़ायी तथा औद्योगिक शिक्षा दी जाती है और रचनात्मक कार्यों का अनुभव कराया जाता है। शिक्षण क्रम में कताई, बुनाई, सिलाई, चित्रकला, संगीत, गार्हस्थ शास्त्र, समाज विज्ञान और गणित आदि का समावेश है। पाँच वर्ष शिक्षा पाने वाली छात्राओं को 'विनीता' की उपाधि दी जाती जाती है। छात्राओं के रहने के लिए छात्रावास की व्यवस्था है।

बाल-मन्दिर सन् १९४२ में स्थापित हुआ था। इसका उद्देश्य यह है कि २॥ से ७ साल तक की उम्र के बालकों के सर्वाङ्गीण विकास का प्रयत्न किया जाए; उनकी शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक उन्नति हो, जिससे वे देश और समाज के योग्य अङ्ग बनें और मानव संसार का भविष्य उज्ज्वल करने में सहायक हों।

गोपुरी; गोसेवा-संघ और ग्राम-सेवा मंडल—सेठ जमनालाल जी ने अपने जीवन के अन्तिम भाग में गोसेवा का महान व्रत लेकर कार्य किया था। उनके रहने का यहाँ जो स्थान है, वह 'शान्ति कुटीर' कहलाता है। उसके सामने ही उनकी समाधि बनी है। गोपुरी में दो संस्थाएँ हैं—गोसेवा संघ और ग्राम सेवा मंडल। इनकी देखरेख श्री राधाकृष्ण बजाज करते हैं। गोसेवा-संघ का उद्देश्य देश के गोवंश

की सर्वांगिरण उन्नति करना है। इसकी ओर से वर्धा की जनता को उचित दामों में शुद्ध दूध दिया जाता है। शहरों में दूध मंहगा होने पर भी शुद्ध रूप में कितना दुर्लभ होता है, यह सब जानते हैं। इससे इस संस्था के इस काम का महत्व स्पष्ट है।

आचार्य विनोबा ने सन् १६२१ में सत्याग्रह आश्रम की स्थापना की थी, उसकी ओर से वर्धा तालुका में प्रचार कार्य करने के लिए सन् १६३० में प्रचारक मंडल की स्थापना हुई। उस कार्य को स्थायी रूप देने के लिए उस संस्था को सन् १६३४ में ग्राम-सेवा-मंडल बना दिया गया। इसकी ओर से ये प्रवृत्तियाँ चलती हैं—(१) खादी विभाग (२) ग्राम-सेवा और वस्त्र स्वावलम्बन, (३) सरंजाम कार्यालय, (४) गोशाला, खेती तथा बागवानी, (५) गोसेवा चर्मालय, (६) प्रकाशन विभाग और (७) गुड़विभाग। यहाँ से श्री कुन्दर दिवाण के सम्पादकत्व में 'सेवक' नाम का मासिक मराठी पत्र निकलता है, जिसमें प्रायः श्री विनोबा के विचार रहते हैं। ग्राम-सेवा-मंडल का उद्देश्य गाँवों की नैतिक, राजकीय, बौद्धिक, आर्थिक और शारीरिक उन्नति के लिए सेवा करना है। भारत की अधिकतर जनता गाँवों में रहती है, इससे ऐसी संस्थाओं की विशेष उपयोगिता और आवश्यक है।

कुष्ठधाम, दत्तपुर—मुझे कुष्ठधाम दिखाने की कृपा श्री कुन्दर दिवाण ने की। यह संस्था वर्धा से ढाई मील, वर्धा-नागपुर रोड पर है। इसकी स्थापना सन् १६३६ में हुई थी, उस समय 'महारोग' के निवारण के लिए गैर-ईसाइयों द्वारा संचालित यह भारत भर में एक ही संस्था थी। इसके मंत्री श्री मनोहर दिवाण बहुत श्रद्धा और निष्ठा से सेवा में लगे हैं। कुष्ठधाम खुले रमणीक और स्वास्थ्यप्रद स्थान पर है। रोगियों के रहने का अच्छा प्रबन्ध है। वे खेती का कार्य, सूत कातने और अन्य रचनात्मक कार्य में योग देते हैं। प्रायः आदमी किसी महारोगी के पास जाने और उसकी सेवा करने को अपनी जान संकट में

डालना समझते हैं, ऐसी दशा में जो भाई ऐसी संस्था के कार्य में भाग लेते हैं, वे धन्य हैं !

परमधाम आश्रम—यह संस्था भी मुझे श्री कुन्दर दिवाण ने दिखायी। यह वर्धा से पाँच मील, पवनार गांव के पास, धाम नदी के किनारे पर है। विनोबा जी पहले यहां ही रहते थे और आसपास के देहातों के कार्यकर्ताओं को आवश्यक आदेश या परामर्श दिया करते थे। अब तो आप भू दान-यज्ञ में लगे हुए हैं और भारत के भूमिहीन किसानों की समस्या को अहिन्सक क्रान्ति द्वारा सुलझाने में लगे हुए हैं। आपने सम्पत्ति-दान यज्ञ और श्रमदान- यज्ञ का भी महान कार्य आरम्भ कर दिया है। इस प्रकार आप संसार के सामने नयी विचार-धारा और नया वातावरण तथा जीवन-दर्शन उपस्थित कर रहे हैं।

स्वामी सत्यभक्त जी—वर्धा में पत्रकार श्री उमाशंकर शुक्ल (संचालक, भारतेन्दु हिन्दी सिंडिकेट) के आयोजन से, वर्धा जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से गांधी भवन में एक सार्वजनिक सभा हुई थी। इसमें अन्यान्थ साहित्यिक सज्जनों के अतिरिक्त स्वामी सत्यभक्त जी से भी भेंट होने का प्रसंग आया। आप अनेक विषयों के विचारक हैं। आपने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं, सत्यामृत, नया संसार, निरतिवाद, मानव भाषा, संस्कृति समस्या आदि। आप 'संगम' के सम्पादक तथा संचालक हैं। आपके सत्याश्रम में एक धर्मालय है, जिसमें सब धर्मों के प्रतिनिधियों—राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, महावीर, जरथुस्त आदि की मूर्तियाँ एक-साथ रखी हैं। भगवान सत्य और भगवती अहिन्सा की भी मूर्तियाँ है। इसे सत्येश्वर का मंदिर कहते है। मुझे यह मन्दिर आदि देखने का तो मौका नहीं मिला, पर कुछ समय आप से वार्तालाप हुआ था, और पीछे पत्र-व्यवहार भी हुआ। सर्वोदय के वर्तमान प्रचलित रूप की दृष्टि से आप 'सर्वोदयवादी' नहीं है। ग्राम्यवाद आप को पसन्द नहीं। खादी का तो आप इस प्रगति के युग में वहिष्कार ही चाहते हैं। इस तरह आपके और मेरे विचारों में मौलिक भेद है। तथापि

आपसे अच्छा स्नेह-सम्बन्ध रहा। आपको मेरी यह बात अच्छी लगी कि इस अवस्था में आकर भी मैंने अपने विचारों में परिवर्तन किया और अर्थशास्त्र आदि का नया दृष्टिकोण पाठकों के सामने रखा। मुझे भी इसकी खुशी है कि आप सत्य-भक्त हैं। हाँ, सत्य कहाँ है, यह मत-भेद का विषय बना है।

नागपुर और आगरा में—नागपुर में लोकसेवी श्री पूनमचन्द रांका और 'आलोक'-सम्पादक श्री विश्वम्भर शर्मा की योजना के अनुसार हिन्दी हितकारी मंडल की ओर से अभ्यंकर कांग्रेस भवन में एक सार्वजनिक सभा की गयी। इसमें विविध विषयों पर सर्वोदय दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया। रांका कालोनी में भी सर्वोदय चर्चा हुई।

नागपुर से प्रयाग लौटते हुए मैं कुछ समय आगरा ठहरा। यहाँ 'अमर उजाला' कार्यालय में एक साहित्य-गोष्ठी हुई उसमें सुप्रसिद्ध पत्रकार हरिशंकर जी शर्मा के अतिरिक्त सर्वश्री गोपालनारायण शिरोमणी, राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी, महेन्द्र जी तथा डोरीलाल अग्रवाल आदि सज्जनों ने भाग लिया। मेरे साहित्यिक जीवन सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे गये, उनका उत्तर देते हुए मैंने बतलाया कि अगर दुनिया को आगे टिके रहना है तो गांधी विचारधारा ही उसका आधार होगा। सर्वोदय की कल्पना गांधी विचारधारा का ही एक व्यवहारिक रूप है। आचार्य्य विनोबा का भूदान, सम्पत्तिदान और श्रमदान आन्दोलन भी इसी विचार धारा के मूर्त रूप हैं।'

विशेष वक्तव्य—इस यात्रा में मैं जहाँ कहीं गया, चर्चा का मुख्य विषय सर्वोदय रहा। इन दिनों मेरा स्वास्थ्य अच्छा न होते हुए भी मध्यभारत और मध्यप्रदेश का जलवायु राजस्थान की तरह अनुकूल ही प्रतीत हुआ। इस प्रकार अब यात्रा के लिए मन में पहले जैसी आशंका न रही। सोचता हूँ, सुविधा होने पर ऐसी यात्रा का क्रम काफी रहना चाहिए। हाँ, यात्रा का मुख्य उद्देश्य सर्वोदय भावना का अनुभव और प्रचार करना ही रहे।

बाइसवाँ अध्याय

सर्वोदय प्रचार

मैं सभी नर-नारियों से प्रेम रखता हूँ। सभी मेरे लिए प्रेम स्वरूप हैं। मनुष्य को भगवान समझ कर उसके प्रति प्रेम रखने में कितना आनन्द है—एक बार स्वयं अनुभव करके देखिए न ! —विवेकानन्द

कुछ समय से सर्वोदय कार्य में भाग लेने और लेखनी तथा वाणी से इसका प्रचार करने की इच्छा रही है। इस के फल-स्वरूप जो साहित्य-रचनाएँ तैयार की गयीं तथा जो यात्राएँ हुई, उनका उल्लेख पिछले अध्यायों में हो चुका है। यहाँ-प्रचार कार्य का विचार किया जाता है; इसका परिमाण बहुत कम ही है, तथापि इससे इसके स्वरूप का परिचय हो जाता है।

दारागंज में सर्वोदय समाज—सेवापुरी सर्वोदय सम्मेलन में भाग लेने वाले स्थानीय सज्जनों में श्री माधोप्रसाद शर्मा भी थे। उस सम्मेलन के बाद जुलाई १९५२ में इनके उद्योग से दारागंज में सर्वोदय भावना का प्रचार करने के लिए सर्वोदय समाज की स्थापना हुई। मुझे ऐसा लगा कि मानो ये मेरे ही मन का काम कर रहे हैं। अस्तु, समाज की बैठक प्रति पखवारे होने लगी। ये बैठकें किसी खास एक ही जगह न होकर जुदा-जुदा व्यक्तियों के मकानों पर होतीं, जिससे धीरे-धीरे सभी मोहल्लों के आदमियों को इनका लाभ मिले। सर्वोदय सम्बन्धी किसी विषय पर चर्चा होती। सुविधानुसार कुछ विशेष महानुभावों के व्याख्यान आदि की योजना की जाती। इस प्रकार प्रथम वर्ष में सर्वश्री पंडित

सुन्दरलाल, महात्मा भगवानदीन, कुमारप्पा, सुरेशराम भाई, जैनेन्द्र कुमार, शकरदयालु श्रीवास्तव, बाबूराम मिश्र, शिवचरणलाल एडवोकेट आदि के भाषण हुए। यद्यपि कोई स्थूल या ठोस कार्य तो नहीं हुआ, पर सद्विचारों के प्रचार का अपना महत्व है ही। कभी-कभी विपक्ष के विचार भी जानने को मिले, इससे ज्ञात हुआ कि सर्वोदय का विचार लोगों के मन में घर करे, इसके लिए काफी प्रयत्नों की आवश्यकता है।

जबलपुर में सर्वोदय गोष्ठियाँ—नागपुर में गांधी जयन्ती का कार्यक्रम चल रहा है, और यह म० गांधी के जन्म-दिवस अर्थात् २ अक्तूबर तक चलेगा—यह मालूम होने पर मैंने जुलाई १९५३ के अन्त में प्रयाग से नागपुर आने का निश्चय किया। रास्ते में मित्रवर आचार्य श्री भगवतशरण अधोलिया के प्रेमपूर्ण आग्रह से जबलपुर ठहरने का प्रसंग आ गया। यहाँ कई सर्वोदय गोष्ठियाँ हुईं। बात यह थी कि मेरे सर्वोदय विचारों का मित्रों का पता लगता जा रहा था, और वे मुझ से मिलने पर स्वभावतः इसी विषय की चर्चा विशेष करते थे; कई मित्र मेरा परिचय दूसरों को 'सर्वोदय अर्थशास्त्र का लेखक' के रूप में ही अधिक कराते थे।

जैन महाविद्यालय में सर्वोदय सभा—श्री अधोलिया जी की सर्वोदय साहित्य और विचारधारा से बहुत सहानुभूति रही है। अपने अर्थशास्त्र सम्बन्धी लेखों से आप इस विचार-धारा का समय-समय पर प्रचार करते रहते हैं। मेरे जबलपुर आने के अगले ही दिन (३० जुलाई) आपने कालिज में शिक्षकों, विद्यार्थियों और छात्राओं की सभा की। उसमें मैंने सर्वोदय व्यवस्था का संक्षेप में परिचव देते हुए बतलाया कि अर्थशास्त्र हो या कोई भी शास्त्र हो, वह उसी दशा में शास्त्र कहलाने का अधिकारी हो सकता है, जब उसके सिद्धान्त और निष्कर्ष सर्वोदय की कसौटी पर खरे उतरते हों। उत्पादन, उपभोग, विनिमय या वितरण कोई भी आर्थिक क्रिया हो, उसमें मानवता का

दृष्टिकोण होना चाहिए। केवल सोने चांदी के लेखे-जोखे वाला बही-खाता जनता का, देश का या संसार का हित नहीं कर सकता।

मेरे वक्तव्य के बाद विद्यार्थियों ने कुछ प्रश्न किये, उनका यथा-सम्भव उत्तर दिया गया।

साहित्यिकों में सर्वोदय विचार अगले दिन जैन कालिज में नगर के विविध साहित्यिकों तथा अन्य सज्जनों की गोष्ठी हुई। कार्य-क्रम का प्रारम्भ श्री व्यवहार राजेन्द्रसिंह के इस प्रश्न से हुआ कि सरकार की पंचवर्षीय योजना सर्वोदय की दृष्टि से कैसी है। मेरा संक्षेप में जवाब यह था कि योजना का उद्देश्य सब लोगों की—समाज के नीचे से नीचे स्तर के आदमियों की न्यूनतम अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करना ही होना चाहिए। और, ये आवश्यकताएँ बहुत समय तक मुफ्त में पूरी नहीं की जा सकतीं—ऐसा करना उचित भी नहीं है। यह लोगों के स्वाभिमान के विरुद्ध है। अतः योजना ऐसी हो जिससे सब लोगों को आजीविका मिले और वे स्वावलम्बी बनें। सरकार की वर्तमान योजना का यह लक्ष्य नहीं है, इसलिए यह उस सीमा तक अधूरी या दूषित है। इसके बाद और भी प्रश्नोत्तर हुए और उपस्थित सज्जनों की इस विषय में बहुत दिलचस्पी मालूम हुई।

अर्थ-वाणिज्य महाविद्यालय में— १ अगस्त को तिलक जयन्ती के उपलक्ष्य में, अर्थ-वाणिज्य विद्यालय में सार्वजनिक सभा की गयी। श्री डाक्टर नाग के भावपूर्ण प्रारम्भिक वक्तव्य के बाद मैंने लोक-मान्य को विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके बहुविधि प्रभावकारी कार्यों का उल्लेख करके कहा कि उस समय सर्वोदय के कार्यक्रम ने आजकल जैसा रूप ग्रहण नहीं किया था, पर सर्वोदय की भावना तो चिरकाल से रही है. और लोकमान्य के सभी कार्यों में यह भावना थी। उन्होंने स्वराज्य-अधिकार की घोषणा की और उसके लिए इतना कष्ट उठाया तो उसमें सबके हित का लक्ष्य था। वे संसार के किसी भी देश का पराधीन रहना पसन्द नहीं करते थे। उनका 'गीता रहस्य' सबके

कल्याण के लिए है। उन्होंने जो अनुसन्धान किये, वे अपने लिए नहीं, लोकहित की दृष्टि से किये। विद्यार्थियों को चाहिए कि वे अपने अध्यापकों से भी आगे बढ़ें, इस बात में नहीं कि अधिक ऊँची उपाधियाँ अथवा ऊँचे पद या वेतनादि प्राप्त करें, उन्हें मानवता की भावना के विकास में अपने शिक्षकों को पीछे छोड़ देने का निश्चय करना चाहिए।

तिलक जयन्ती के कार्यक्रम के बाद महाविद्यालय के आचार्य श्री बलदुआ जी और अन्य सज्जनों से सर्वोदय चर्चा हुई।

जैन लायब्रेरी की गोष्ठी—इसी दिन, रात्रि के समय जैन लायब्रेरी में सभा हुई। उसमें उपस्थित बन्धुओं से मैंने निवेदन किया कि जैन भाई घड़ी दो घड़ी ही मंदिर में दर्शन करके संतुष्ट न हों। वे मनुष्य-मात्र में भगवान महावीर के दर्शन करना और इस प्रकार चौबीस घन्टे ही धर्ममय जीवन बिताना सीखें। हम लोग रुपया कमाने के लिए ब्यापार करते हैं, हमें जीवन का व्यापार करना और मानवता उपार्जित करनी चाहिए।

इस प्रकार जबलपुर में मुझे सर्वोदय की चर्चा करने का अच्छा अवसर मिला।

नागपुर में गांधी जयन्ती; ग्रामोद्योग कार्य—इसके बाद मैं नागपुर श्री प्रोफेसर विनयमोहन शर्मा के पास गया। यहाँ समय-समय पर विविध सज्जनों से सर्वोदय चर्चा करता रहा। लोकसेवी श्री पूनमचन्द रांका इन दिनों गांधी जयन्ती का कार्यक्रम रोज नियमित रूप से चला रहे थे। प्रति सप्ताह शुक्रवार के दिन किसी खास जगह कार्य होता था, उसके मुख्य अंग प्रार्थना, प्रवचन, सामूहिक कताई और बस्ती की सफाई थे। सुविधानुसार मैंने इसमें भाग लेने का प्रयत्न किया।

इधर गांधी जयन्ती के उपलक्ष्य में सर्वसेवा-संघ की ओर से ग्रामोद्योग सम्बन्धी योजना भी की गयी थी। नागरिकों को हाथ-चक्की का पिसा आटा, हाथ से कुटे चावल और घानी का तेल मिलने के लिए भंडार की व्यवस्था की गयी थी। तीन-चार हाथ चक्की भी लगी थीं

जो आदमी श्रमदान करना चाहे, वह उनसे काम ले सकता था। आदमी अपने उपयोग के लिए आटा वहाँ पीस सकता था। मैंने कई मित्रों से ग्रामोद्योग की चर्चा की। श्री विनयमोहन जी ने एक बोरी चावल और एक हाथ चक्की का आर्डर दे दिया।

साहित्य और सर्वोदय — १३ अगस्त को श्री बिंझाणी नगर महाविद्यालय में मुझे हिन्दी साहित्य समिति का उद्‌घाटन करने का अवसर मिला, तो मैंने साहित्य में सर्वोदय भावना की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा कि कोई साहित्य वास्तव में साहित्य नहीं है, यदि उससे उसके रचयिता तथा पाठकों का नैतिक स्तर ऊँचा नहीं उठता। साहित्यिक रचनाओं में मानवता का दृष्टिकोण रहना चाहिए। जिस अर्थशास्त्र या राजनीति शास्त्र का आधार दूसरों का शोषण है, वह शास्त्र कहा जाने योग्य नहीं। भाषा के ज्ञान का उपयोग दूसरों से प्रेम और उनकी सेवा सहायता करने में होना चाहिए, लड़ाई झगड़ा करने में नहीं। जो लोग प्रकाशकों या पाठकों की मांग का विचार करके, कुछ टकों के लिए अपनी आत्मा को बेचने के वास्ते तैयार रहते हैं, वे अच्छा साहित्य कैसे दे सकते हैं! साहित्यिक बनने के लिए हमारे हृदय में मनुष्य-मात्र के लिए प्रेम, अनन्त प्रेम, होना चाहिए।

तुलसी और राम-राज्य—तुलसी जयन्ती के अवसर पर नागपुर महाविद्यालय की हिन्दी साहित्य समिति के अधिवेशन पर मैंने श्रोताओं से निवेदन किया कि तुलसी ने रामराज्य का आदर्श सामने रखा था। सर्वोदय में हमें उसके सब सद्‌गुणों को अपनाना है। अब एकतंत्र न होकर लोकतंत्र है, इसे अच्छी तरह चलाने के लिए यह आवश्यक है कि हम तुलसी द्वारा चित्रित किये हुए रामराज्य का चिन्तन और मनन करें—हमारे आपस में वैर-विरोध न हो, प्रेम भाव हो, विषमता न हो, दुखों का निवारण हो, स्वधर्म अर्थात् कर्तव्य का पालन हो, हम स्वस्थ और ज्ञानवान हों तथा अपनी शक्ति और योग्यता का उपयोग लोकसेवा के लिए करें—

बयरु न करु काहू सन कोई।
राम प्रताप विषमता खोई ॥
दैहिक, दैविक, भौतिक तापा।
राम-राज्य नहिं काहुहि व्यापा ॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीति।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति ॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनहुँ पीरा।
सब सुन्दर सब निरुज शरीरा ॥
नहिं दरिद्र कोऊ दुखी न हीना।
नहिं कोई अबुध न लच्छन हीना ॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी।
सब कृतज्ञ नहिं कपट समानी ॥

विशेष वक्तव्य—नागपुर में कुछ अधिक समय रह कर यहाँ के विविध सर्वोदयी कार्यक्रमों में भाग लेने का विचार था, पर प्रयाग से पुत्री शान्ति की बीमारी की सूचना पाकर यहां से जल्दी लौटना पड़ा। अस्तु, जितना बन आया, सर्वोदय प्रचार का प्रयत्न किया गया। आगे जब, जहाँ, जितना अवसर मिलेगा, इस दिशा में अपना उपयोग करने की इच्छा है।

—:०:—

तेइसवाँ अध्याय

जीवन-दृष्टि

मैं इस बात का दावा तो रखता हूँ कि मैं भारतमाता का और मनुष्य जाति का एक नम्र सेवक हूँ और ऐसी सेवाओं के करते हुए मृत्यु की गोद में जाना पसन्द करूँगा।

—गांधी जी

मनुष्य जीवन के प्रश्न को हल करने का प्रयत्न अनेक विधियों से करता है। किन्तु जब तक उसे हल करने की ठीक विधि नहीं मालूम होती तब तक वह भटकता ही रहता है, और उसकी अशान्ति बढ़ती जाती है। किन्तु जिस समय उसे ठीक विधि मालूम हो जाती है, उसी समय उसके जीवन का प्रश्न हल हो जाता है और उसे शान्ति प्राप्त हो जाती है।

— जेम्स एलन

अपने जीवन के विगत वर्षों का सिंहावलोकन करते समय मैं अपने कष्टों, विफलताओं और हृदय को पीड़ा पहुँचानेवाली आपदाओं का 'नहीं, बल्कि अधिकांश व्यक्तियों के हृदय में विराजने वाली सहृदयता का ही स्मरण करता हूँ।

—लार्ड इनूमेन

क्या मैं सफल रहा ?—समय-समय पर मुझे अपने जीवन पर नजर डालते रहने का अवसर आया है, और जैसा बन आया अपने जीवन को सुधारने का भी विचार किया है। परन्तु किसी विशेष महानुभाव या संस्था से यथेष्ट पथ-प्रदर्शन नहीं हुआ। इस दशा में अनेक

भूलें, गलतियाँ, अपराध आदि हुए हैं। जो साहित्य-कार्य किया उसके लिए भी कोई पृष्ठभूमि या जन धन का यथेष्ट सहयोग नहीं था। अकेले, राम-भरोसे, गाड़ी चलानी थी। ऐसी हालत में जो बन आया उसे गनीमत समझता हूँ। अनेक मित्रों ने मुझे बहुत सफल माना है तो दूसरों की दृष्टि में इस कार्य का विशेष मूल्य नहीं भी रहा होगा। लोगों का दृष्टिकोण जुदा-जुदा होता है। प्रश्न यह है कि हम स्वयं अपनी नजर में कैसे रहे। मैंने प्रायः अपने कार्य का गर्व न करते हुए भी उसे ऐसा नहीं समझा है कि मैं अपने-आप को असफल कहूं। जितने अंश में भी कार्य हो गया, उतने अंश तक मैं उसे अपनी सफलता और ईश्वर का अनुग्रह मानता हूं।

बिके मुफ्त हम यहाँ जमाने के हाथों।
देखा तो यह भी थी कीमत ज्यादा॥

क्या मैंने बहुत कष्ट उठाया ?–कुछ मित्रों ने मेरी प्रशंसा करते हुए मेरे कष्टों का वर्णन किया है। परन्तु यदि किसी कार्य के लिए कुछ कष्ट, कुछ असुविधाएँ, कुछ अपमान आदि न सहना पड़े तो उस कार्य को प्रायः विशेष महत्व का ही नहीं माना जाना चाहिए। फिर, कौन नहीं जानता कि देश की स्वाधीनता के लिए अनेक पुरुषों और महिलाओं ने, बालकों और बूढ़ों ने कैसे-कैसे कष्ट सहे हैं—बेंत या कोड़ों की मार, जेल, कालापानी या फांसी और इनसे बढ़कर कई कई महीने नहीं, कई-कई वर्षों का निरंतर शहीदी जीवन ! क्या साहित्य-निर्माण का कार्य कुछ कम महत्व का है, क्या इसके लिए आजीवन त्याग, सादगी और सेवा-व्रती होने की आवश्यकता नहीं है और इन बातों में अपने ढंग का एक निराला आनन्द नहीं है ! गरीब और बहुत समय तक पराधीन रहनेवाले अनेक भारतीय बधुओं को जैसे कष्ट सहने पड़े है, उनकी तुलना में मेरे जैसे व्यक्ति के जीवन को कष्टमय मानना कैसे ठीक कहा जा सकता है ?

संसार का व्यवहार—मैंने प्रायः दूसरों से विशेष आशा नहीं

रखी, इसलिए मुझे निराश होने का अवसर भी कम आया। तथापि यह स्वीकार करता हूँ, कि समय-समय पर मुझे कुछ लोगों का व्यवहार बहुत अखरा; मैं अप्रसन्न हुआ, और मैंने बहुत बुरा भी माना। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया मेरे दृष्टिकोण में अन्तर आता गया। मैं सोचने लगा कि दूसरे आदमी ने अप्रिय व्यवहार किया है तो इसमें मेरा ही कुछ दोष होगा। मैंने अपनी गलती से उसे वैसा करने का अवसर दिया। कभी-कभी मेरे मन में यह भी विचार आने लगा कि दूसरे का अप्रिय व्यवहार हमारे आचरण की कसौटी है। किसी के क्रोध या अपशब्दों की हमारे मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है, क्या हम अपना संयम बनाये रख सकते हैं, अथवा अपना संतुलन खो बैठते हैं? पीछे जाकर ऐसी दृष्टि हो गयी कि जीवन में जो असुविधाएँ, कष्ट या क्लेश आते हैं, वे अन्ततः हमारे लिए हितकर ही होते हैं, उनसे हमारे मानसिक या आत्मिक विकास में सहायता मिलती है। इसलिए किसी कष्ट देने वाले के प्रति हमारे मन में कोई दुर्भाव न होना चाहिए; वरन् हो सके तो हमें उसको अपना उपकारी मान कर उसका कृतज्ञ होना चाहिए। अस्तु, जिन सज्जनों का मुझसे किसी बात पर झगड़ा हुआ, उन्होंने चाहे मुझसे सम्बन्ध-विच्छेद रखने की इच्छा रखी हो; मुझे प्रायः उनसे पीछे मिलने जुलने या पत्र-व्यवहार करने में अपना अपमान नहीं प्रतीत हुआ, वरन् इस दिशा में आगे बढ़ने या पहल करने में एक अद्भुत आनन्द का अनुभव हुआ। बहुधा मैं यह चाहता रहा कि किसी प्रकार हमारी आपस की सफाई हो जाए और हमारे मन में एक दूसरे के प्रति कोई तनातनी न रहे।

ऊपर जिस प्रकार के व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, ये इने-गिने ही रहे हैं। अधिकतर आदमियों के साथ तो मेरा कभी कुछ विवाद या झगड़ा होने का प्रसंग ही नहीं आया। उनका व्यवहार इतने स्नेह, प्रेम और बहुत दशाओं में सेवा भाव का रहा कि मैं कल्पना भी नहीं करता था। अनेक बार मुझे बिलकुल अपरिचित व्यक्तियों के यहाँ जाने का

प्रसंग आया है—आरम्भ में तो सब अपरिचित ही होते हैं—और उनके व्यवहार में मुझे अपरिचय का आभास नहीं हुआ है। कई बार जिन लोगों के यहाँ मैं गया हूं, उनके घर के बालक, बालिकाओं तथा स्त्रियों ने मुझे यथेष्ट स्नेहदान किया है। इस प्रकार मैं इतने सज्जनों द्वारा इतना उपकृत हूँ कि मुझमें उससे उऋण होने की क्षमता ही नहीं है, सोचता हूं कि उऋण होने की चिन्ता ही क्यों की जाए!

सार्वजनिक मान-प्रतिष्ठा की बात—कुछ मित्रों ने समय समय पर यह इच्छा प्रकट की है कि मेरा सार्वजनिक रूप से सम्मान किया जाए। ऐसे प्रसङ्गों में मेरी विशेष रुचि नहीं रही है, कहना चाहिए कि कुछ अरुचि ही है (चाहे कुछ लोगों को इसमें अंगूर खट्टे होने की बात मालूम हो)। यही कारण है कि व्रज साहित्य मंडल ने मुझे ताम्र-पत्र देने की कृपा की, तो उस उत्सव मे सम्मिलित होने का शिष्टाचार मैं नहीं दिखा सका। अबोहर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर मुझे समाज-शास्त्र परिषद का सभापति चुना गया, वह मैंने अनिच्छा और मजबूरी से ही स्वीकार किया था। गवालियर, इन्दौर के भूत-पूर्व राज्यों से तथा उत्तरप्रदेशीय सरकार के द्वारा मेरी विभिन्न कृतियों पर समय-समय पुरस्कार मिला, इसे मैंने स्वीकार किया तो मेरे सामने इसमें अपनी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति की भावना ही रही, सम्मान की नहीं।

एक विनीत भक्त की तरह मैंने यही चाहा है कि सरस्वती के मंदिर में यथा-सम्भव चुपचाप दर्शन करता रहूँ, दूसरे आदमी मुझे जितना कम देखें, उतना ही अच्छा है। प्रसाद लेने की, और दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कराने की तमन्ना नहीं। ऐसा लगता है कि मंदिर जाने का फल, सरस्वती के दर्शन के अतिरिक्त, कुछ और प्राप्ति होगी तो दर्शन का माहात्म्य कम हो जाएगा। फिर दुनिया बहुत बड़ी है, हजार दो हजार आदमियों के सामने हमारा कुछ सम्मान हो जाने, घँटे दो घंटे लोगों के प्रशंसात्मक-भाषण हो जाने या कुछ पत्र पत्रिकाओं

में हमारे विषय में लेख छप जाने से हम कुछ बहुत बड़े बनने वाले नहीं; शायद ये बातें हमें कुछ छोटा ही बनादें। अस्तु, मुझे इस विषय का कोई असन्तोष नहीं है कि मुझे ऐसा सार्वजनिक सम्मान नहीं मिला, जैसा कुछ सज्जन मेरे लिए चाहते रहे हैं। मेरी दृष्टि में मुझे आत्म-संतोष मिल गया, तो सब कुछ मिल गया।

मृत्यु सम्बन्धी विचार—मेरे जीवन के काफी लम्बे समय में रोग-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुख आदि के अनेक अवसर आना स्वाभाविक ही था। पर कड़ी से कड़ी विपत्ति में भी प्रायः मैंने यह नहीं चाहा कि मेरे शरीर का अन्त हो जाए। आत्म-हत्या करने की तो मुझमें 'शक्ति' ही न थी। मेरा विचार कुछ ऐसा रहा है कि कैदी को अपने कैद का समय शान्ति से बिताना चाहिए, कैद से भागने का प्रयत्न करना अनुचित है, इससे कैद की अवधि बढ़ने की सम्भावना है। इस प्रकार मनुष्य को जीवन के कष्टों से बिलकुल न घबरा कर उनका शान्ति और दृढ़ता से सामना करना चाहिए।

प्रायः विदायी, वियोग या मृत्यु की बातें करना अच्छा नहीं समझा जाता और इन्हें अन्तिम क्षण तक टाला जाता है, जब कि इनके लिए प्रायः शान्त और अनुकूल अवसर नहीं होता। मैं तो मृत्यु सम्बन्धी बातें सन् १६२१-२२ से करता आ रहा हूँ। 'प्रेम' के १३–६–२१ के अंक में मैंने लिखा था कि 'हमें न तो जन्म की खुशी माननी चाहिए और न मृत्यु का शोक। किसी के मरने पर उसके लिए महीनों या वर्षों रोना या बिरादरी-भोज आदि करना अनुचित है। यदि हमसे हो सके तो हमें मृत महाशय के कार्यों या विचारों की पूर्ति में योग देना चाहिए।'

१५-६-२२ के 'प्रेम' में मैंने एक लेख दिया था, उसका शीर्षक था—'मौत की तैयारीः हमारे सफल जीवन की परीक्षा।' इसमें कहा गया था, 'अच्छी मृत्यु प्राप्त करने के लिए हमारी जिन्दगी की दिनचर्या अच्छी होनी चाहिए। हमें काम, क्रोध, लोभ, मोह को छोड़ कर अपना

मानवी कर्तव्य पालन करते रहना चाहिए।....उपर्युक्त विचार मेरे सामने विशेष रूप से इस समय आने का कारण यह है कि आश्विन शुक्ला अष्टमी का दिन आ रहा है, यह मेरा जन्म-दिन है। परमात्मा ऐसी बुद्धि दे कि भविष्य में मैं अपने बहुमूल्य जीवन का सदुपयोग करूं और मातृभूमि की यत्किंचित सेवा कर अपने मन का बोझ कुछ हलका करूं। आशा है, विविध सज्जन अपने-अपने सामर्थ्यानुसार इस कार्य में मेरे सहायक होंगे।'

मौत की तैयारी—यद्यपि किसी आदमी के विषय में बहुत पहले से यह ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि उसे संसार को कब छोड़ देना होगा, यह जग-जाहिर है कि जो जन्मा है, वह मरेगा। दुनिया का ऐसा माया-जाल है कि बहुधा हम शारीरिक या मानसिक कष्ट भोगते हुए भी, और अपने लिए कोई खास कार्यक्रम हाथ में न रखते हुए भी मृत्यु का आमंत्रण स्वीकार करने के लिए सहसा तैयार नहीं होते। यदि हमारी मर्जी पर छोड़ दिया जाए तो हम प्रायः हमेशा ही कुछ समय और संसार में बना रहना चाहेंगे। पर प्रश्न हमारी मर्जी का नहीं रहता। एक समय बिदा होना ही होगा—चाहे हम हंसते हुए बिदा हों, और चाहे रोते हुए। बेहतर है कि हम जाने के लिए हमेशा तैयार रहें, और उसमें न तो विशेष सुख ही मानें और न दुःख ही समझें।

माता जी की बात; खद्दर का कफन—इस प्रसग में मुझे अपनी माता जी की बात याद आती रही है। उन्होंने सुख-दुख की भावना को कहाँ तक जीता, यह जानने और समझने का तो मुझे अवसर नहीं मिला। पर इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अपनी मृत्यु की बात प्रायः किया करती थीं। उन्होंने खादी के कपड़े तैयार करा के रख लिये थे, जो उनके मरने पर काम दें। उन्होंने अपने पास-पड़ोस की औरतों को बता दिया था कि ये कपड़े घर में कहाँ रखे हैं, जिससे समय पर उन्हें ये आसानी से मिल सकें और इस विषय

में कुछ चिन्ता न करनी पड़े। मोहल्ले की औरतों को उनकी मौत की बात से दुख होता था, पर माता जी कह देतीं कि मौत कब आएगी, यह तो राम-जाने—कफन आदि रखने से कुछ मौत थोड़े ही आती है—तथापि उसके लिए इन्तजाम तो रहना चाहिए। संयोग से एक बार घर में चोरी हो गयी, और दूसरी चीजों के साथ वे कपड़े भी चले गये। इसे पास-पड़ोस की औरतों ने अच्छा शगुन समझा, वे कहने लगीं, अभी तो हमारे भाग्य से तुझे बहुत रहना है; तू मरने की बात न किया कर। माता जी उन औरतों के प्रेम-भाव का आदर करती थी, पर वे उनकी बातों में न आयीं, और उन्होंने जल्दी ही दूसरी बार वैसे कपड़े फिर तैयार करके रख दिये।

इस बात का उल्लेख करते हुए मैंने २७ सितम्बर १६२१ के 'प्रेम' में लिखा था 'अच्छा हो हमारे शिक्षित सभ्य नागरिक इस बात के लिए तैयार हों कि अपनी मृत्यु का ख्याल करते हुए बिलकुल न डरें, बल्कि उसकी तैयारी में स्वदेशी कफन पहले से बना रखें।

इस गाढे वक्त में सभी गाढ़े को पहिन लें।
इन शहरियों को अक्ल यह कोई गंवार दे॥

'कोई मनुष्य इस बात की गारंटी नहीं ले सकता कि मरने के बाद उसके विचारों की कहाँ तक रक्षा होगी, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मुझे अपनी अन्तिम घड़ी में बहुत सन्तोष होगा यदि मुझे पूर्ण विश्वास दिला दिया जाए कि मेरा शरीरान्त होने पर मेरे लिए रोने-पीटने का काम न होगा, और कफन के लिए शुद्ध स्वदेशी वस्त्र का उपयोग किया जाएगा।'

तमन्ना है कि मर कर भी चलन अपना स्वदेशी हो।
मजा मरने में आए गर कफन अपना स्वदेशी हो॥

मेरे जीवन का अन्तिम कार्य—मै समय-समय पर अपने जीवन के अन्तिम अध्याय की कल्पना करके आवश्यक बातें सूचित करता रहा

हूँ, जिससे मृत्यु के समय कुछ कहने या करने का विशेष कार्य न रहे। अपनी 'अन्तिम' पुस्तक ('भावी नागरिकों से') मैंने अब से दस वर्ष पहले लिखी थी। उसके बाद प्रायः मैंने अपनी प्रत्येक पुस्तक को ही अपनी अन्तिम कृति माना है, और मैंने उसमें उस समय की दृष्टि से अपने सर्वोत्तम विचार देने का इरादा किया है; दूसरी फुटकर बातें मैं समय-समय पर सम्बन्धित व्यक्तियों से कहता रहा हूं।

वशेष, वक्तव्य—कौन-जाने मेरे अन्तिम क्षण में मेरी क्या स्थिति होगी, कौन पास होगा और किस-किस से कितनी बातें कहने की मेरी शक्ति या सुविधा होगी। इसलिए अपनी भावनाएँ पहले से ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अन्त में अपने सब सम्बन्धित व्यक्तियों के सामने मुझे विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की (श्री भवानीप्रसाद तिवारी द्वारा अनुवादित) आगे लिखी पंक्तियाँ रखनी हैं—

गीत मेरे, दो विदा, मैं जा रहा हूँ—
सभी के चरणों नमन, मैं जा रहा हूँ।
द्वार की ये कुंजियाँ, लो, तुम सँभालो;
अब नहीं घर बार मेरा, तुम सँभालो—
बोल बोलो प्यार के मैं जा रहा हूँ;
सभी के चरणों नमन, मैं जा रहा हूँ;
मीत, हैं हम तुम पड़ोसी बहुत दिन के;
दिया कम, औ' ले चला मैं अधिक गिन के;
हो गया अब तो सवेरा—
मिट गया, रे, तिमिर-गृह के दीप का वह किरन-घेरा
हो रही है टेर, लो मैं जा रहा हूँ—
सभी के चरणों नमन मैं जा रहा हूँ।

———

परिशिष्ट

मेरी रचनाएँ

सन्	पुस्तक-संख्या	पुस्तक का नाम	संस्करण १९५३ तक
१९१५	१	भारतीय शासन	१२
१९१६	२	भारतीय विद्यार्थी विनोद	३
१९१७	३	भारतीय राष्ट्र निर्माण }	२
		हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ (१९३९) }	१०
१९२०	४	देशभक्त दामोदर	१
	५	भारतीय जागृति	५
१९२३	६	भारतीय राजस्व	३
	७	भारतीय चिन्तन	१
१९२६	८	भारतीय अर्थशास्त्र	५
	९	निर्वाचन नियम } *	१
		निर्वाचन पद्धति (१९३८) }	४
१९२७	१०	राजनीति शब्दावली *	४
	११	बालब्रह्मचारिणी कुन्ती देवी	१
१९२८	१२	नागरिक शिक्षा	८
	१३	सरल भारतीय शासन ×	५
१९२९	१४	ब्रिटिश साम्राज्य शासन }	३
		राष्ट्रमंडल शासन (१९४९) } *	१
१९३०	१५	श्रद्धांजलि	१
	१६	भारतीय नागरिक	१
१९३१	१७	विश्व वेदना	१

सन्	पुस्तक-संख्या	पुस्तक का नाम	संस्करण १६५३ तक
१६३२	१८	अर्थशास्त्र शब्दावली *	४
	१६	नागरिक शास्त्र	३
१६३३	२०	कौटल्य के आर्थिक विचार *	४
१६३५	२१	हिन्दी में अर्थशास्त्र और राजनीति साहित्य*	२
१६३६	२२	अपराध चिकित्सा	२
	२३	भारतीय राज्य शासन ×	५
	२४	नागरिक ज्ञान ×	३
	२५	धन की उत्पत्ति × *	१
१६३७	२६	राजस्व ×	१
	२७	एलिमेंटरी सिविक्स ×	२
१६३८	२८	गांव की बात	३
१६३६	२६	सरल अर्थशास्त्र × *	४
	३०	सरल नागरिक ज्ञान (दो भाग) ×	२
१६४०	३१	साम्राज्य और उनका पतन	२
१६४१	३२	सरल नागरिक शास्त्र ×	२
	३३	कौटल्य की शासनपद्धति ×	२
१६४२	३४	देशी राज्य शासन	२
१६४४	३५	विश्व-संघ की ओर *	२
	३६	भावी नागरिकों से	२
१६४६	३७	मनुष्य जाति की प्रगति	२
	३८	शासन विज्ञान ×	२
१६४८	३६	व्यवसाय का आदर्श	१
	४०	देशी राज्यों की जन-जागृति	१
१६४६	४१	भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन	१
१६५०	४२	हमारी आदिम जातियाँ *	१

सन्	पुस्तक-संख्या	पुस्तक का नाम	संस्करण १९५३ तक
१९५२	४३	सर्वोदय अर्थशास्त्र	१
	४४	हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो ?	१
	४५	सर्वोदय राज, क्यों और कैसे ?	२
१९५३	४६	मानव संस्कृति	१
	४७	समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय	१
	४८	मेरा साहित्यिक जीवन	१
	४९	मेरा जीवन—सर्वोदय की ओर	१
	५०	सर्वोदय—दैनिक व्यवहार में	१

नोट—३८ वर्ष में ५० पुस्तकें लिखी गयीं; उन के कुल मिला कर १३७ संस्करण छपे हैं।

× चिह्न वाली पुस्तकें अन्य प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हैं। शेष सब (तथा कुछ पुस्तकें दूसरे लेखकों की भी) मेरी भारतीय ग्रन्थमाला या सर्वोदय ग्रन्थमाला में छपी हैं।

* चिह्न वाली पुस्तकें मैंने दूसरों के साथ मिल कर लिखी हैं।

अनुक्रमणिका

मेरे गुरुजन, साथी और स्नेही

नाम	पृष्ठ
अखिल विनय	२०८–६
अचलेश्वरप्रसाद	२००
अम्बिकाप्रसाद त्रिपाठी	११०
अयोध्याप्रसाद (गुरू जी)	२३-४, १२४, १४४,
आनन्दभिक्षु (स्वामी जी)	८५, ६४, ६७, १०१-२, १०४-५, १४५
आनन्दराव जोशी	१२१–२२
ईश्वरीप्रसाद	७८
उमरावसिंह	६६
एंड्र्ूज	४६
ओमप्रकाश (केला)	१३७, १६६, २०३, २०५-६, २०६
कन्हैयालाल पोद्दार	१२३
कन्हैयालाल राठी	७४
कर्ण कवि	७८
कलावती (मेरी पत्नि)	७४, १०७
काशीनाथ त्रिवेदी	११७, २३४
किशनलाल अग्रवाल	२२७
किशनलाल (केला)	२६, ३२-३३
किशनलाल गोयनका	११३, १५८
खोड़े जी (वि० स०)	२३६, २३८

नोट :— ऊपर जिन सज्जनों के नाम दिये गये हैं, उनके अतिरिक्त और भी कुछ सज्जनों का इस पुस्तक में कुछ-कुछ उल्लेख हुआ है, स्थानाभाव से उनके नाम नहीं दिये गये।

— —